प्राचीन भारत में जिला शासन

3783

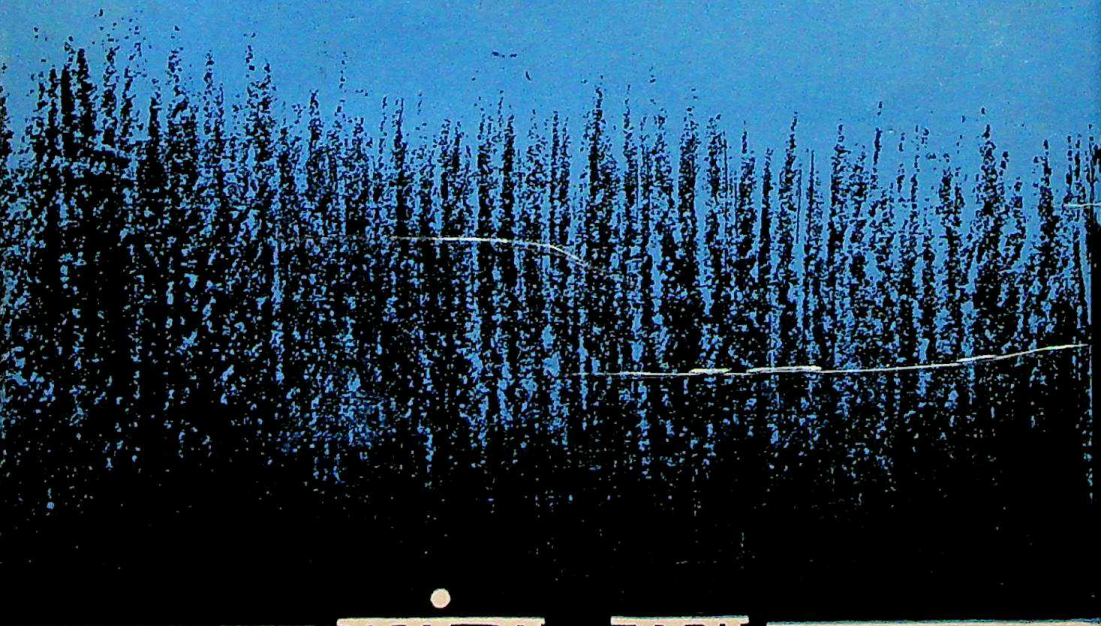

मंगला राय

अभी तक प्राचीन भारत के प्रशासनिक इतिहास पर जो भी शोध हुए हैं उनमें जिला शासन पर कोई स्वतंत्र शोध नहीं हुआ है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध प्राचीन भारतीय जिला शासन पर प्रथम ग्रंथ है जिसमें जिला शासन सम्बन्धी सभी मुद्दों पर विस्तृत अध्ययन किया गया है और उसका विश्लेषण भी। अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है और प्राचीन भारतीय अध्ययन की एक महत्त्वपूर्ण विधा की पूर्ति इस ग्रंथ से होती है। विद्वान् लेखक ने बड़े परिश्रम और मनोयोग से अपने पांच वर्षों के अनुसंधान के बाद इसे पूरा किया है। भारतीय विधा के जिज्ञासुओं के लिए यह एक सर्वथा नवीन शोध है।

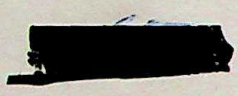

5703

प्राचीन काल में
जिला शासन

प्राचीन भारत में जिला-शासन

मंगला राय,
एम० ए०, पी० एच० डी०
व्याख्याता, इतिहास विभाग,
बी० एन० एम० कालेज, बरहिया
(भागलपुर विश्वविद्यालय)

जानकी प्रकाशन
दिल्ली : पटना

प्रकाशक,

श्री नन्दकिशोर सिंह
जानकी प्रकाशन
अशोक राज पथ
पटना—800004

मुद्रक :
सन्तोषी प्रिंटर्स
शाहगंज, पटना—6

प्रथम संकरण, 1983

मूल्य—65·00

(C) लेखकाधीन

"विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अंतर्गत भागलपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त आंशिक अर्थ सहायता से प्रकाशित" ।

पुस्तक प्राप्ति स्थान

जानकी प्रकाशन
अशोकराज पथ
चौहट्टा,
पटना 800004

जानकी प्रकाशन
1979, गंज मीरखान
दरियागंज
नई दिल्ली, 110002

समर्पण

गुरुवर, प्रोफेसर राधाकृष्ण चौधरी

के

चरणों में

त्वदीयंवस्तु गोविन्दम्
तुभ्यमेव समर्पितम्

—लेखक

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
आमुख	...	(x)—(xii)
संकेत निदेश	...	(xiii)—(xvi)
प्रथम अध्याय	...	1—16

विषय-प्रवेश :

(क) प्राचीन भारत में राजनीति-संबंधी कल्पनायें;

(ख) प्राचीन भारतीय शासन के अध्ययन के प्रमुख श्रोत;

(ग) श्रोतों का समीक्षात्मक विश्लेषण ।

द्वितीय अध्याय	...	17—44

प्राचीन काल से प्राक्-मौर्यकाल तक भारतीय शासन-पद्धति का सर्वेक्षण और उसका मूल-भूत सिद्धांत ।

तृतीय अध्याय	...	45—48

मौर्य-काल में जिला-शासन

चतुर्थ अध्याय	...	84—127

(150 ई० पू०--800 ई० के बीच उत्तर भारत में जिला-शासन)

(क) कुषाणकालीन जिला-शासन

(ख) गुप्तकालीन जिला-शासन

(ग) हर्षकालीन जिला-शासन

(घ) पाल-प्रतिहार काल में जिला-शासन

पंचम अध्याय	...	128—143

दक्षिण भारत में जिला-शासन का इतिहास (300—1000 ई०)

(क) सातवाहन काल में जिला-शासन

विषय पृष्ट संख्या

(ख) मल्लव और चोल-काल में जिला-शासन

(ग) राष्ट्रकूटकालीन जिला-शासन

षष्ठ अध्याय ... 144—164

प्रशासनिक इकाईयां

(1) भुक्ति, (2) भोग, (3) आहार, (4) राष्ट्र, (5) देश, (6) मण्डल, (7) विषय, (8) वीथी, (9) स्थली, (10) पेठक, (11) पेठ, (12) पट्ट, (13) प्रविष्य या प्राप, (14) पुर, (15) द्रङ्ग, (16) अग्रहार ग्राम ।

सप्तम अध्याय ... 165—186

प्रमुख पदाधिकारियों का विश्लेषण

(1) कुमारामात्य, (2) उपरिक, (3) विषयपति, (4) धौस्साधसाधनिक, (5) भोगिक, (6) प्रतिहार, (7) दूतक (8) द्रङ्गिक, (9) चाट और भाट ।

उपसंहार ... 187—188

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची ... 189—204

आ मु ख

इस शोध प्रबन्ध के विषय का सुझाव 1970 में प्रो० राधाकृष्ण चौधरी, से मिला है। बाद है उन्होंने अपने निर्देशन में कार्य करने का अवसर भी प्रदान किया। 'हिन्दू पॉलिटी' के अध्ययन में मेरी विशेष रुचि प्रारम्भ से ही रही है। अतएव प्रस्तुत विषय पर कार्य करने में मुझे विशेष उत्साह एवं गौरव का अनुभव हुआ। प्रोफेसर चौधरी की मात्र यह इच्छ थी कि प्रबन्ध राष्ट्रभाषा हिन्दी में हो। इस प्रबन्ध की रचना प्रो० राधाकृष्ण चौधरी के उत्साहवर्द्धक तथा स्नेह-सम्बलित निर्देशन में हुई है। उनकी सहायता और मार्ग-दर्शन के बिना यह कार्य कठिन था।

पी० एच० डी० एक उपाधि है। इसे में इस रूप में मानता हूँ कि इससे विशेष ज्ञान की उपलब्धि भी होती है क्योंकि जबतक खोज-कार्य में लगा रहना पड़ता है तबतक तो अपरिपक्वता की स्थिति रहती है और इस कार्य के सम्पूर्ण हो जाने पर विहित विषय में परिपक्वता का अर्जन सतत प्रयास के कारण प्राप्त होता है। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में विद्वान गुरुजनों ने अपने बहुमूल्य समय का ध्यान न रखकर सर्वदा मुक्त हृदय से अपने योगदान एवं विचारों और सुझावों से मेरी पग-पग पर सहायता की। इसके बिना यह कार्य संभवतः सम्पूर्ण न हो पाता।

प्रस्तुत विषय पर अभी तक वैज्ञानिक ढंग से कार्य नहीं हुआ था। अतः हमने इसी विषय का चयन किया और इसपर यथाशक्ति काम करने का प्रयास किया है। मैंने जिन विद्वानों के श्रम से लाभ उठाया है उनके सम्बन्ध में भी अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। यदि कहीं 'चुक' हो गयी हो तो उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ। इस दिशा में हरेक पग पर इन विद्वानों ने हमारा मार्ग प्रशस्त किया है। में जानता हूँ कि प्रस्तुत मार्ग पर मेरा एक भी पग 'नया' नहीं है; लेकिन उस मार्ग का पथिक होने का आश्वासन ही मेरे लिए पर्याप्त होगा। इस दिशा में भी मैं अपने से पूर्ववर्ती विद्वानों का ही आभार मानूंगा।

हिन्दी के माध्यम से इसके लिखने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। प्रबन्ध से सम्बन्धित सभी सामग्री अंग्रेजी, अरबी, फारसी, उर्दू तथा संस्कृत में थी। अतः हिन्दी में लिखते समय नवीन संयोजन, नवीन आवकलन, नवीन संग्रहण और नवीन विश्लेषण प्रधानतः अभीष्ट था।

प्रबन्ध के सामग्री-संकलन में देश के अनेक पुस्तकालयों तथा व्यक्तिगत संग्रहों से मैंने लाभ उठाया है जिनका उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा। सर्वप्रथम मैं नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता विश्वविद्यालय लाइब्रेरी तथा एशियाटिक सोसायटी (बंगाल), कलकत्ता लाइब्रेरी का आभारी हूँ, जिनके कार्यकर्ताओं ने सामग्री-संकलन की दिशा में मेरी बड़ी सहायता की है। काशी विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, इण्डोलॉजी कालेज लाइब्रेरी (का० वि० वि०), न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया लाइब्रेरी (का० वि० वि०), काशी नागरी प्रचारिणी सभा लाइब्रेरी, संस्कृत विश्वविद्यालय लाइब्रेरी तथा काशी विद्यापीठ लाइब्रेरी के अधिकारियों ने दुर्लभ ग्रन्थों, जर्नलों को देखने और उनसे उद्धरणों को लेने की अनुमति प्रदान कर मुझे उपकृत किया है। पटना विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, पटना कालेज लाइब्रेरी, गणेशदत्त महाविद्यालय लाइब्रेरी, बेगूसराय; टी० एन बी० कालेज लाइब्रेरी, भागलपुर, भागलपुर विश्वविद्यालय लाइब्रेरी, भागलपुर के अधिकारियों ने भी जर्नलों की सुलभता की दिशा में मेरी बड़ी सहायता की। एतदर्थ मैं इन सभी का अनुगृहीत हूँ।

व्यक्तिगत संग्रहों में से मैं प्रो० राधाकृष्ण चौधरी के पुस्तक-संग्रहों से विशेष रूप से लाभान्वित हुआ हूँ। उनके प्रति मैं नम्रतापूर्वक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

वस्तुतः इस कार्य के सम्पादन में जितने क्षण बीते हैं, उनमें संघर्षों की शृंखला चलती रही है। संघर्षों के उन क्षणों में कौन-सी शक्ति साथ देती रही है, मैं कह नहीं सकता, परन्तु इतना अवश्य है कि यदि वह शक्ति न होती तो जो कुछ भला या बुरा हुआ, कुछ भी न हो पाता। प्रबन्ध की प्रत्येक पंक्ति में उसी अदृश्य शक्ति का सहयोग है, जो 'टूटे रथ-चक्रों के सारथी' को 'मृत्यु में ही जीवन' प्राप्त करने का 'आदेश' देती है। उसके प्रति मैं क्या करूँ·····आभार या·····?

काशी की लाइब्रेरियों में सामग्री-संकलन का कार्य कर रहा था, उस समय डा० विशुद्धानन्द पाठक (रीडर, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने एतद् सम्बन्धी अनेक सुझाव देकर उपकृत किया। प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में मैंने सम्माननीय डा० उपेन्द्र ठाकुर (अध्यक्ष, प्राचीन एवं एशियन स्टडीज, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया) एवं प्रोफेसर गोवर्द्धन राय शर्मा, प्रयाग विश्वविद्यालय, के बहुमूल्य सुझावों से पर्याप्त लाभ उठाया है। मैं सुहृदवर कामेश्वर शरण सहाय (प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, टी० एन० बी० कालेज, भागलपुर का भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मेरे प्रबन्ध को आद्योन्त पढ़ा, तथा भाषा-सम्बन्धी सुधार में मेरी सहायता की। मैं डा० उपेन्द्र नाथ मल्लिक (अध्यक्ष, स्नातकोत्तर अंग्रेजी विभाग, एस० पी० कालेज, दुमका, के, सम्माननीय एवं पूज्य श्री हृदय नारायण राय और प्रिय भाई श्री शिवकुमार मिश्र

आदि का भी आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे लिए इस शोध-प्रबन्ध के प्रणयन में कुछ उठा नहीं रखा। डा० प्रभास वर्मा (प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय), श्री जयदेव मिश्र और मेरे मित्र, श्री सर्वजीत राय ने भी सहयोग प्रदान किया। इसके लिए उन्हें हार्दिक धन्यवाद। इनकी शुभशंसाओं का मुझ पर सदा आभार रहेगा। इस शोध-प्रबन्ध के सुन्दर एव शुद्ध टंकण के लिए श्री गोपाल प्रसाद अम्बष्ट, एस्टेन्ट रजिस्ट्रार, भागलपुर विश्वविद्यालय, को भी धन्यवाद।

यथास्थान निर्दिष्ट किये गए गन्थों एवं सहायक गन्थ-सूची में उल्लिखित ग्रन्थों के लिए मैं उन सभी ग्रन्थकर्त्ताओं और लेखकों का अनुगृहीत हूँ, जिनके निबन्धों और ग्रन्थों से मैंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सहायता प्राप्त की है। मैं जानकी प्रकाशन के स्वामी एवं संचालक श्री रामवृत्त सिंह तथा श्री नन्द किशोर जी को भी धन्यवाद देता हूँ जिनकी दिलचस्वी एवं चूस्ती के बिना इस रूप में पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकती थी।

अन्त में, मैं अपने सभी शुभैषियों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ, जिनकी कृपा से अपना श्रम आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ। यदि मेरे अथक परिश्रम के बाद भी शोध-प्रबन्ध में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो उसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

2 अक्टूबर, 1982
बरहिया

मंगला राय

संकेत निर्देश

ABBREVIATION

Adi. P.	:	Adi Parua
Proceeding of A. I. O. C.	:	Proceedings of All India Oriental Conference.
A. S. I. R.	:	Archaeological Survey of India Reports.
A. S.	:	Arthasastra.
C. II.	:	Corpus Inscriptionum Indicanum.
E. C.	:	Epigraphia Carnatica.
E. I.	:	Epigraphia Indica.
H. C.	:	Harsacharita.
H. D. S.	:	History of Dharmasastra.
H. S. L.	:	History of Sanskrit Literature.
I. A.	:	Indian Antiquary.
I. C.	:	Indian Culture.
I. E. G.	:	Indian Epigraphical Glossory.
I. H. Q.	:	Indian Historical Quarterly.
J. A. H. R. S.	:	Journal of Andhra Historical Research Society.
J. B. B. R. A. S.	:	Journal of Bombay Branch of Royal Asiatic Society.
J. B. O. R. S.	:	Journal of Bihar and Orissa Research Seciety.
J. B. R. S	:	Journal of Bihar Research Society.

A. B. O. R. I.	:	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.
J. R. A. S.	:	Journal of Royal Asiatic Society of Great Britaine and Ireland.
J. R. A. S. B.	:	Journal of Royal Asiatic Society of Bengal.
Katya	:	Katyayana Smrti.
K. N. S.	:	Kamandaka Niti Sara.
Manu	:	Manu Smrti.
Mal	:	Malavikagnimitra.
Mrch	:	Mrchhakatika.
Raghu	:	Raghuvamsa.
V. D. P.	:	Visnudharmottara Purana.
V. I.	:	Vedic Index.
Vol.	:	Volume.
Yaj	:	Yajnavalkya.

●

अथर्व०	:	अथर्ववेद संहिता
ऋ०,	:	ऋग्वेद संहिता
यजु०	:	यजुर्वेद संहिता
सामवेद०	:	सामवेद संहिता
रामा०	:	रामायण
महा०	:	महाभारत
का० कात्यायन कात्या०	:	कात्यायन स्मृति
कौ० अर्थशास्त्र अर्थ०	:	कौटलीय अर्थशास्त्र

गृह० र०	:	गृहस्थ रत्नाकर
गौ०		
गौ० ध० सू०	:	गौतमधर्मसूत्र
तै० अ०	:	तैत्तिरीयारण्यक
तै० ब्रा०	:	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०	:	तैत्तिरीय संहिता
नारद०	:	नारदस्मृति
नीतिवा०	:	नीतिवाक्यामृतम्
कामन्दक०	:	कामन्दकीयनीतिसार
परा० मा०	:	पराशरमाधवीय
पा०	:	पाणिनि-अष्टाध्यायी
बृह०		
बृ०	:	बृहस्पतिस्मृति
बृह० उप०	:	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहत्सं०	:	बृहत्संहिता
बौ० ध० / बौ० ध० सू०	:	बौधायन धर्मसूत्र
बौ० श्रो०	:	बौधायन श्रोतसूत्र
मद० पा०	:	मदनपारिजात
मनु०	:	मनुस्मृति
मिता०	:	मिताक्षराटीका
मेधा०	:	मेधातिथिभाष्य
या०		
याज्ञ०	:	याज्ञवल्क्यस्मृति
रा० ध० कौ०	:	राजधर्मकौस्तुभ
वशिष्ठ०	:	वशिष्ठस्मृति
वशिष्ठ ध० सू०	:	वशिष्ठधर्मसूत्र

वाज० सं०	:	वाजसनेयसंहिता
वि० विष्णु०	:	विष्णुस्मृति
वि० चि०	:	विवादचिन्तामणि
वि० ध० सू०	:	विष्णुधर्मसूत्र
वि० र०	:	विवादरत्नाकर
व्य० म०	:	व्यवहारमयूख
व्य० मा०	:	व्यवहार मातृका
शुक्र०	:	शुक्रनीतिसार
स्मृ० चं०	:	स्मृतिचन्द्रिका

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

(क) प्राचीन भारत में राजनीति सम्बन्धी कल्पनायें :—

प्राचीन भारत में विविध विद्याओं के विकास का उल्लेख मिलता है जिसमें राजनीतिशास्त्र को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। पाश्चात्य लेखकों ने सदैव यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्राचीन भारत के निवासी राजनीतिशास्त्र से सर्वथा अपरिचित थे और यदि उन्हें राजनीतिशास्त्र का कोई ज्ञान था भी, तो वह धर्म के परिवेश में ही सिमटा हुआ था। पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा निर्मूल है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि परलोक की चिन्ता करते हुए भी प्राचीन भारत के निवासियों ने इस लोक की कभी उपेक्षा नहीं की थी। योगशास्त्र में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि धर्म का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति-मात्र नहीं, वरन् सांसारिक अभ्युदय भी है। प्राचीन ग्रन्थों में जिन विद्याओं के अध्ययन-अध्यापन का उल्लेख हुआ है, उससे स्पष्ट है कि लौकिक ज्ञान को यहाँ विशेष महत्त्व दिया जाता था। कौटिल्य के निम्नांकित संकेत से इस बात की संपुष्टि हो जाती है कि—'आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये चार विद्याएँ हैं। सांख्य योग और लोकायत को आन्वीक्षिकी कहते है; ऋक्, यजु और सामवेदों को त्रयी कहते हैं; कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को वार्ता कहते हैं।

कौटिल्य के अनुसार आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता का योगक्षेम 'दण्ड' पर निर्भर करता है। उनकी नीति को 'दण्डनीति' कहते हैं। जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त करना, प्राप्त हुए की रक्षा करना, रक्षित की वृद्धि करना और बढ़ी हुई सुख-समृद्धि को यथायोग्य स्थानों एवं पात्रों में प्रयुक्त करना ही दण्डनीति का मूल उद्देश्य है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है कि दण्ड द्वारा ही अव्यवस्थित लोगों को संयत किया जाता है। 'अर्थ' के संरक्षण के लिए भी दण्ड की व्यवस्था हुई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'दण्ड' के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों के मत उद्धृत किये गये हैं। बार्हस्पत्य सम्प्रदाय का मत है कि वार्ता और दण्डनीति दो प्रमुख विद्याएँ हैं। औशनस सम्प्रदाय के मत में दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है। आचार्य कौटिल्य भी दण्डनीति के विशिष्ट महत्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि अन्य तीनों विद्याओं का मूल दण्डनीति में ही है। कौटिल्य के अनुसार सम्पूर्ण सांसारिक जीवन दण्डनीति पर आश्रित है। उन्होंने अर्थ को प्रधान माना, क्योंकि धर्म और काम के मूल में अर्थ ही महत्वपूर्ण है।

कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' से राज्यसंस्था का ही बोध होता है अर्थशास्त्र में दण्ड-नीति एवं राजनीति का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि यदि दण्डनीति न रहे तो 'त्रयी' का नाश हो जाये, धर्म रह ही न पाये और समाज की स्थिति भी सम्भव न हो। राजधर्म को शान्तिपर्व में विशेष महत्व दिया गया है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) राजधर्म पर ही आश्रित हैं। स्पष्ट ही मोक्ष भी राजधर्म में ही समाहित है। प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुसार मनुष्यों के लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए राज्यसंस्था एवं राजधर्म की बड़ी उपयोगिता है। राज्य-संस्था में ही मानवजीवन के चरम विकास और उन्नति की सम्भावना निहित है। कामन्दकनीतिसार के अनुसार दण्डनीति द्वारा सम्पूर्ण जगत अपने मार्ग पर निरन्तर चलता है। मनु के अनुसार दण्ड ही धर्म है। दण्ड के अभाव में मत्स्यन्याय की आशंका और दण्ड के भय से ही न्यायपथ का अनुशरण स्वाभाविक है। दण्ड के समुचित प्रयोग से ही समाज सुव्यवस्थित ढंग से चलता है।

प्राचीन भारत में राजधर्म, राजशास्त्र, धर्म, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, दण्डनीति आदि राजनीतिशास्त्र के पर्यायवाची शब्द माने जाते थे। औशनस और प्रजापति के ग्रन्थों को 'दण्डनीति' के नाम से संबोधित किया गया है। 'नीति' शब्द का अर्थ होता है मार्ग-दर्शन और 'नीतिशास्त्र' से उस शास्त्र का बोध होता है जिससे समाज के विभिन्न तत्वों के बीच समन्वय लाया जा सके। प्राचीन भारत के निवासी राजनीति के सभी तत्वों से सुपरिचित थे और राजनीति पर ग्रन्थ लिखने की परम्परा भारतवर्ष में सदैव बनी रही है। अस्तु, 'राजधर्म' ही कालान्तर में दण्ड-नीति के नाम से प्रचलित हुआ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में जिन आचार्यों के मत उद्धृत किये गये हैं, उनके नाम निम्नांकित हैं—भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणवदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्तीपुत्र. कणिक भारद्वाज, कात्यायन, घोटकमुख, दीर्घचारायण, विशुनपुत्र एवं किन्जलक। कौटलीयं अर्थशास्त्र मानवाः, बार्हस्पत्याः, औशनसाः, पराशराः, आम्भीयाः आदि सम्प्रदायों और साथ ही अनेक पूर्वाचार्यों के मतों का संग्रह किया है। कौटिल्य ने 'लोकायत' (नास्तिक दर्शन) सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में कतिपय पूर्ववर्ती राजशास्त्र-प्रणेताओं के नाम उल्लि-खित हैं; जैसे—विशालाक्ष, इन्द्र (बाहुदन्तीपुत्र का दूसरा नाम) बृहस्पति, मनु, शुक्र, भारद्वाज, गौरशिरा, मातरिश्वा, कश्यप, वैश्रवण, उतथ्य, वामदेव, शम्बर, कालकवृक्षीय, वसुहोम, कामन्दक इत्यादि। इनमें से नाम कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी मिलते हैं। शान्तिपर्व से ज्ञात होता है कि विशालाक्ष के नीतिशास्त्र में दस हजार, इन्द्र के नीतिशास्त्र में पाँच हजार और बृहस्पति के अर्थशास्त्र में तीन

हजार अध्याय थे। इसके अतिरिक्त भी कई राजशास्त्र-प्रणेता आचार्यों के नाम महाभारत में मिलते हैं।

कामन्दक नीतिसार में अनेक प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण मिलते हैं। उसमें दो नये नाम मय और प्रलोमा के हैं। चण्डेश्वर द्वारा प्रणीत 'राजनीति-रत्नाकर' में अनेक आचार्यों और ग्रंथों के मत प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं; जैसे—व्यास-निर्मित अर्थप्रदीप, अर्थशास्त्र (लेखक का नाम नहीं है), कात्यायन, कुलुकभट्ट, नारद, मनु, शुक्र इत्यादि। यहाँ स्मरणीय है कि नारद के जो श्लोक राजनीति-रत्नाकर में मिलते हैं वे नारदस्मृति में नहीं मिलते। मित्रमिश्र द्वारा प्रणीत 'वीरमित्रोदयराजनीति' में भी अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम दिये गये हैं; जैसे—विज्ञानेश्वर, बृहत्पाराशर, अपरार्क, गौतम, बृहस्पति, नारद, अंगिरा, कात्यायन इत्यादि। वीरमित्रदिय पुराण और मीमांसा ग्रन्थों से प्रभावित हैं। सोमदेवसूरि के नीतिवाक्यामृत में गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म, भारद्वाज आदि आचार्यों का उल्लेख है। मनु और शुक्र के जो उद्धरण 'नीतिवाक्यामृत' ने दिये हैं, वर्तमान समय में उपलब्ध मनुस्मृति और शुक्रनीति में वे नहीं मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि के नीतिशास्त्र में नीति की चर्चा हुई है और लक्ष्मीधर (1125), अन्नमभट्ट (1200), चण्डेश्वर (1370), नीलकण्ठ और मित्रमिश्र (1600) ने भी क्रमशः नीतिकल्पतरु, नीतिचन्द्रिका, राजनीतिरत्नाकर, नीतिमयूख और नीतिप्रकाश में राजनीति का विश्लेषण किया है।

(ख) प्राचीन भारतीय शासन के अध्ययन के प्रमुख स्रोत :—

प्राचीन भारत के लोगों ने राजनीतिशास्त्र में विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग किया था किन्तु खेद की बात यह है कि उनके इन प्रयोगों को जानने और समझने के लिए अबतक उपयुक्त साधन उपलब्ध नहीं हुए हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में जैसी कठिनाइयों का हमें सामना करना पड़ता है, प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अध्ययन के सम्बन्ध में भी वैसी ही कठिनाइयाँ सामने आती हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य लेखकों ने विश्वराजनीतिशास्त्र के इतिहास में भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन को विशेष महत्व नहीं दिया है। विगत सौ वर्षों से प्राचीन भारतीय साहित्य और अन्यान्य साधनों का जो अध्ययन आरम्भ हुआ, उसके परिणामस्वरूप अब हमें प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में थोड़ी-बहुत सुविधा-सहायता मिलने लगी है। वैदिक, संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों के प्रकाशन से इसके अध्ययन में काफी मदद मिलती है और नये-नये शिला-लेखों तथा सिक्कों के प्रकाश में आने से प्राचीन भारतीय राजनीतिक जीवन और शासन-

पद्धति पर काफी प्रकाश पड़ा है। इसके अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र के मूल ग्रंथ भी उपलब्ध हुए हैं।

राजनीतिक सिद्धान्तों एवं शासनकार्यों से सम्बन्धित ग्रंथों को आरम्भ में दण्डनीति या अर्थशास्त्र कहते थे। शान्तिपर्व में दण्डनीति का अर्थ है शासन संबंधी सिद्धान्त और अर्थशास्त्र को वहाँ जनपद सम्बन्धी शास्त्र कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र वह शास्त्र है, जिसमें राज्य की प्राप्ति और उसके पालन के उपायों का वर्णन हो। कौटिल्य का अर्थशास्त्र बहुत हद तक प्राचीन आचार्यों के ग्रंथों पर अवलम्बित है महाभारत को प्राचीन भारतीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास भी कहा जा सकता है। महाभारत में 'गौरशित' और आश्वालयन गृह्य-सूत्र में 'आदित्य' नाम का निर्देश मिलता है। ये (दो) नाम कौटिल्य में वर्णित नामों से भिन्न हैं। कौटिल्य के बहुत पहले से इस देश में राजनीतिशास्त्र का अध्ययन और प्रणयन व्यापक रूप में होता था। जातकों में वर्णन है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन मंत्रियों के पथप्रदर्शन के लिए आवश्यक है। कल्पसूत्रों की रचना की समाप्ति तक राजनीतिशास्त्र को प्रामाणिक विषय के रूप में स्थान एवं महत्व मिल चुका था। धर्मसूत्रों की रचना के पहले से अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य उपलब्ध था।

ई० पू० 650 के पहले ही भारत में राजनीतिशास्त्र विषयक ग्रंथों का प्रणयन प्रारम्भ हो गया था। अर्थशास्त्र का अध्ययन इसी के लगभग आरम्भ हुआ। महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म द्वारा उल्लिखित विभिन्न प्राचीन मतों के प्रमाण से विदित होता है कि उस समय राजनीतिशास्त्र पर ग्रंथ उपलब्ध रहे होंगे जो कि अब अप्राप्य हैं। ई० पू० 7वीं और छठी सदी में प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी अनेक ग्रंथ अवश्य अस्तित्व में थे; इसमें कोई संदेह नहीं। यूरोप में उस समय राजनीतिशास्त्र की चर्चा भी नहीं थी। अर्थशास्त्र और महाभारत में जिन आचार्यों और ऋषियों के नाम का उल्लेख हुआ है, उनके विवरण से सिद्ध होता है कि यहाँ राजनीति का विकास यूरोप से बहुत पहले हो चुका था। इन दोनों ग्रंथों में उल्लिखित नामों से पता चलता है कि राजनीतिशास्त्र प्राचीन युग में अध्ययन का विषय भी बन चुका था। उन ग्रंथों से राजनीति के प्रायः सभी तत्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य को प्राचीनतम प्रमाण माना जा सकता है। वैदिक काल के आर्य राजनीतिक दृष्टि से जिन जनों में सुसंगठित थे, वेदों के अध्ययन से उनके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक काल की शासनसंस्थाओं का अनुशीलन के संदर्भ में 'जन'

के रूप में तत्कालीन राजनीतिक संगठन के स्वरूप का ध्यान करना आवश्यक हो जाता है। वैदिक काल में 'जन' या विश की संज्ञा 'राष्ट्र' थी। सभा, समिति, विदथ, गण आदि संस्थाओं के अध्ययन के लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक आदि साहित्य के द्वारा भी उस समय के राजनीतिक विचार और प्रशासन पर प्रकाश पड़ता है। अथर्ववेद के एक सूक्त में मानव समाज और उसकी संस्थाओं के कार्य के विकास का वर्णन मिलता है।[1] इस सूक्त का अत्यधिक महत्व है। यह प्राचीनतम संदर्भ है, जिसमें राज्य-संस्था की उत्पत्ति और उनके विकास एवं उन्नयन पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

उत्तर वैदिक युग में विविध राज्यों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महाजनपदों का उन्नत विकास आरम्भ हुआ। विविध प्रकार की शासन-पद्धतियाँ भारत के जनपदों में विकसित हुईं। इस युग की विभिन्न शासन-पद्धतियों का परिगणन किया गया है[2]—जैसे, प्राचीन दिशा (मगध, कलिंग, बंग इत्यादि) में साम्राज्य के लिए अभिषेक होता था और राजा 'सम्राट्' कहलाते थे; दक्षिण दिशा के शासक (सत्वत = यादव) 'भोज' कहे जाते थे; प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर इत्यादि) के शासक 'स्वराट्' कहलाते थे :, उत्तरदिशा (हिमालय के क्षेत्र) के शासन 'विराट' कहलाते थे और मध्यदेश के शासक (कुस— पान्चाल आदि) 'राजा' कहे जाते थे। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पाँच प्रकार की शासनपद्धतियों का उल्लेख है। उत्तरवैदिक युग में अनेक प्रकार के शासनों का विकास हो गया था। ऋग्वेद में राजशास्त्र-सम्बन्धी निर्देश बहुत थोड़ा-सा है, किन्तु अथर्ववेद और परवर्त्ती वैदिक साहित्य में राजनीतिक बातें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। वैदिक साहित्य से राजतंत्र और तत्सम्बन्धी संस्थाओं पर पूर्णरूपेण प्रकाश पड़ता है।

महाभारत और अर्थशास्त्र राजनीति के अध्ययन के लिए सर्वोत्कृष्ट स्रोत के रूप में ऊँचा स्थान रखते हैं। महाभारत के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, फिर भी इसका समय कम-से-कम ई० पू० 1000 से ई० 400 के बीच रखा जा सकता है। आरम्भ में इसमें 24000 श्लोक थे जो बाद में बढ़कर 1, 00, 000 हो गये। किन्तु अभी भण्डारकर शोध संस्थान से जो संस्करण प्रकाशित हुआ है, उसमें

---

1. अथर्ववेद—8, 10, 1
2. ऐतरेय ब्राह्मण—8, 3, 3; दैवी सिद्धान्त के सम्बन्ध ऐतरेय ब्राह्मण 1, 14 तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण—1, 59 में विवरण मिलता है।

मात्र 82000 श्लोक मिलते हैं। महाभारत के कई पर्व राजनीति के अध्ययन के लिए नितांत उपयोगी हैं, किन्तु बहुत से इतिहासज्ञ कालक्रम के हिसाब से इसे कौटिल्य अर्थशास्त्र के बाद का ग्रंथ मानते हैं। महाभारत और अर्थशास्त्र में पर्याप्त विभिन्नता भी है। प्राचीन भारत के लेखकों की यह प्रवृत्ति थी कि वे अपने गुरुओं के मतों को प्राथमिकता देते थे। परिणामत: महाभारत और अर्थशास्त्र में हमें कई पूर्वाचार्यों का निर्देश मिलता है (जिनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है)। उन आचार्यों या लेखकों की स्फुट रचनाओं से ज्ञात होता है कि 'राजनीति-शास्त्र' का अध्ययन-अध्यापन उनलोगों के समय में ही प्रारम्भ हो चुका था और बाद के लेखकों ने उस प्रथा का निर्वाह-मात्र नहीं किया बल्कि उसे और आगे भी बढ़ाया। ऐसे प्राचीन ग्रंथों में से कुछ की सामग्री महाभारत में मिल गयी और कुछ का उदारतापूर्ण उपयोग कौटिल्य ने किया।

औशनस के मतानुसार राजशास्त्र अध्ययन का सबसे उत्तम विषय है।[1] उनके इस मत की पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र से होता है। अर्थशास्त्र प्राचीन भारतीय राजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें राजा, कोशबल, दुर्ग, मंत्रिमण्डल आय-व्यय, शासनपद्धति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि का विशद् विवेचन किया गया है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अपने पूर्वजों के मतों का जहाँ-तहाँ समर्थन और कहीं-कहीं पर खण्डन भी किया है। कौटिल्य के पूर्ववर्ती विचारकों का कोई भी संकलन अनुपलब्ध है फिर भी कौटिल्य में जिस विधि से उनलोगों की विवेचना हुई है उससे उनकी मान्यतायें सुस्पष्ट हो जाती हैं। अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य शासन-कार्य में राजा का मार्ग-निर्देशन करना और शासन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाना था। युद्ध तथा शान्तिकाल में शासन के स्वरूप और कार्य का जैसा ब्योरेवार वर्णन अर्थशास्त्र में हुआ है, वह शुक्र-नीति को छोड़, बाद के ग्रन्थों में नहीं हुआ है। अर्थशास्त्र में सब मिलाकर 15 अधिकरण और 180 प्रकरण हैं।

एक स्थान पर कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिखा है—"सब शास्त्रों का अनुशीलन करके और क्रियात्मक अनुभव द्वारा कौटिल्य ने नरेन्द्र के लिए शासन की यह विधि बनायी है।" अर्थशास्त्र के अनुशीलन से भारत की जिन परिस्थितियों का हमें

1. आधुनिक लेखकों ने भी इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है और राज्य तथा लोक प्रशासन के सम्बन्ध में अत्याधुनिक काल में काफी पुस्तकें लिखी गयी हैं। प्राचीन भारत के सम्बन्ध में डॉ० बेनी प्रसाद, काशी प्रसाद जायसवाल, उपेन्द्रनाथ घोषाल तथा स्पेलमैन के ग्रंथ महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

परिचय मिलता है, वे उस युग की हैं, जब विविध जनपदों की स्वतन्त्रता का अन्त होकर भारत में एक साम्राज्य का विकास हो रहा था। यही कारण है कि इस ग्रंथ से जहाँ मौर्य साम्राज्य की शासन-विधि के सम्बन्ध में परिचय मिलता है, वहीं प्राचीन जनपदों के स्वरूप और शासन के विषय में भी अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं। राजदर्शन सम्बन्धी विचारों को जानने के लिए भी अर्थशास्त्र एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ है। कौटिल्य की सम्मति में राजनीतिशास्त्र के दो पहलू हैं, दर्शनात्मक एवं प्रयोगात्मक और इसमें दोनों ही प्रकार की राजनीति का वर्णन है।

अर्थशास्त्र की भाँति प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति और राजनीतिक विचारों के अध्ययन—हेतु महाभारत एक महत्वपूर्ण स्रोत है। महाभारत के शांतिपर्व में राजधर्म का बड़ा विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। शान्तिपर्व (या उसका राजधर्म पर्व) विशालता और विस्तार की दृष्टि से राजशास्त्र विषयक किसी भी प्राचीन ग्रंथ से कम विस्तृत नहीं है। इसमें अन्य आचार्यों के मन्तव्यों का भी विशद् रूप से समावेश कर दिया गया है, जिससे इसकी उपयोगिता और बढ़ गयी है। महाभारत को प्राचीन भारतीय ज्ञान का कोश माना गया है। महाभारत में दण्डनीति नामक एक ऐसे ग्रंथ का उल्लेख है, जिसके रचयिता प्रजापति कहे गये हैं। महाभारत में राजशास्त्र का विस्तृत विवेचन राजधर्म के नाम से किया गया है। राजदर्शन और राजसंस्थाओं के अनुशीलन के लिए महाभारत एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जा सकता है। इसकी आधारभूत सामग्री अवश्य प्राचीन है, यद्यपि इसमें रद्दोबदल पाँचवीं शताब्दी तक होता रहा। महाभारत के शान्तिपर्व में राज्य तथा राजतन्त्र की उत्पत्ति, राजा और मंत्रियों के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, स्वराष्ट्र-शासन व्यवस्था, परराष्ट्रनीति इत्यादि विषयों का विशद विश्लेषण मिलता है। सभापर्व के 5वें अध्याय में आदर्श राज्य व्यवस्था का सुन्दर वर्णन है; आदिपर्व के 142 वें अध्याय में कूटनीति का भी समर्थन किया गया है। समापर्व के 32वें और वनपर्व के 25वें अध्याय में आपद्धर्म का बड़ा मनोरंजक विवरण प्राप्त होता है। छिटपुट ढंग से पूरे महाभारत में राजतन्त्र और राज्य व्यवस्था-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन मिलता है। शासन व्यवस्था के कई अंगों का विवरण सविस्तार महाभारत में ही उपलब्ध है।

राजशास्त्र के अध्ययन-हेतु हमें महत्वपूर्ण और उत्तम सामग्री धर्मशास्त्र एवं धर्मसूत्रों में भी प्राप्त होती है। धर्मशास्त्र के कई भागों में राजधर्म का काफी विवेचन किया गया है और उनमें शासन-सम्बन्धी ऐसे उपायों का भी उल्लेख है, जिनकी व्याख्या धर्मशास्त्रकारों ने की है। प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्य भी बहुत-से ग्रंथ हैं, जो राजनीति-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन करते हैं। प्रायः सभी

स्मृति-ग्रंथों में राजधर्म का समावेश हुआ है। मनु, नारद, विष्णु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृतियाँ प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी हैं। इन स्मृतियों में राजा के कर्त्तव्य, राजकर्मचारियों के कार्य, दण्ड और व्यवहार-विधान, परराष्ट्र संबंध आदि विषयों का विवेचन किया गया है। मानवधर्मशास्त्र किंवा मनुसंहिता के सातवें खण्ड में राजधर्म की व्याख्या हुई है। इसमें राजा के कर्त्तव्य एवं कर-सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा और दण्ड की विस्तृत व्याख्या भी की गयी है। विष्णुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति हमारे अध्ययन के लिए कई दृष्टिकोण से उपयोगी कही जा सकती हैं। नारद, कात्यायन और बृहस्पति की स्मृतियों में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे राजशास्त्र के अनुशीलन में पर्याप्त सुविधा मिलती है। विभिन्न स्मृतियों में एक ही विषय पर चर्वितचर्वण हुआ है। याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति मनु के ऋणी हैं। याज्ञवल्क्य पर कौटिल्य प्रभाव भी सुस्पष्ट है। इन स्मृतियों की सहायता से राजा, मन्त्री, सचिव, पार्षद, सभ्य, आदि का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। अर्थशास्त्र के सदृश विस्तृत नहीं होते हुए भी साधारण व्यवहार-हेतु स्मृतियों में उल्लिखित विषय यथेष्ट हैं।

प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति के अध्ययन के लिए स्रोत के रूप में पुराणों का महत्वपूर्ण स्थान है। 'पुराण' का शाब्दिक अर्थ 'प्राचीन' है। अतः पुराण साहित्य में वह समस्त प्राचीन साहित्य सम्मिलित हैं, जिसमें भारत के धर्म, इतिहास, आख्यान, विज्ञान आदि का वर्णन हो। पुराणों का रचनाकाल स्मृतियों से भी अधिक विस्तृत है। अथर्ववेद में ही इतिहास-पुराण का उल्लेख आया है, जिसे कुछ विद्वानों ने बाद में पांचवां वेद कहा। पुराणों के साथ भी वही कठिनाइयाँ हैं, जो महाभारत और अन्य प्राचीन ग्रंथों के साथ। पुराणों में बहुत सारी पुरानी बातें तो हैं किन्तु उनकी रचना बाद में हुई है। राजनीतिक दृष्टि से अग्नि-पुराण का महत्व दूसरों से अधिक है और इसके सम्बन्ध में शोध भी हुआ है। स्मृतिकारों तथा पुराणों में मौलिकता की न्यूनता है। पुराणों में प्राच्य ग्रंथकारों का उद्धरण-मात्र है। अग्नि-पुराण में पुष्कर नामक एक ग्रंथकार के ग्रंथ से अनेक बातें ली गयी हैं। पुराणों में बहुत-से ऐसे आचार्यों के नाम उल्लिखित हैं, जो अन्य स्रोतों से अनुपलब्ध है। इसके अलावा कामन्दकीय नीतिसार राजनीति विषयक अनुशीलन के लिए बहुत उपयोगी हैं।

सूत्रों में विरचित बृहस्पतिसूत्र अर्थशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथ है। इससे अनेक महत्वपूर्ण बातों की जानकारी प्राप्त होती है। ऐसे अन्य ग्रंथ भी हैं जिनसे प्राच्य भारतीय राजनीति के अध्ययन में सहायता मिलती है। उनमें से प्रमुख ग्रंथ हैं, कामन्दकीय नीतिसार, शुक्र नीतिसार, सोमदेवसूरि-कृत नीतिवाक्यामृत, मित्रमिश्र

द्वारा विरचित वीरमित्रोदय राजनीति, चन्डेश्वर का राजनीति-रत्नाकर, नीलकण्ठ का नीतिमयूख, भोजराज-कृत कृत्यकल्पतरु, लक्ष्मीधर-कृत राजनीति कल्पतरु। इनके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण ग्रंथ है राजनीति कामधेनु। नीतिवाक्यामृत भी सूत्रों में ही है और इसे जैन ग्रंथकारों ने 'राजनीतिक सिद्धान्तों का अमृत' कहा है। शुक्र नीतिसार के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है और अधिकांश विद्वान यह मानने लगे हैं कि शुक्र नीतिसार प्राचीन काल की कृति नहीं है, बल्कि इसकी रचना 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई है। यही कारण है कि वर्तमान समय में राजनीतिशास्त्र के जो ग्रंथ नये सिरे से लिखे जा रहे हैं, उनमें 'शुक्र नीतिसार' को विशेष महत्व नहीं दिया जा रहा है। स्वगीय डॉ० के० पी० जयसवाल भी इसे अति प्राचीन नहीं मानते हैं। स्पष्ट ही इस ग्रंथ को लेकर विद्वानों में गहरा वाद-विवाद चल रहा है।

पुराण, रामायण एवं अन्य काव्य ग्रंथों में भी नीति विषयक अनेक निर्देश मिलते हैं। पुराणों में अठारह पुराण महत्वपूर्ण हैं। रामायण में वर्णित राजनीतिक बातें एवं राजनीति-सम्बन्धी तत्व हमारे अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, काव्य, साहित्य, पाणिनि का व्याकरण आदि हमारे अध्ययन के लिए अत्यंत उपादेय हैं। मध्यकालीन मौलिक चिन्तन का अभाव होने पर भी पुरानी परम्परा के अनुकरण और पूर्वाचार्यों के चिह्नों पर चलने की रीति अक्षुण्ण रही है। मध्यकालीन ग्रंथों में तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव प्रत्यक्ष है।

जैन तथा बौद्ध साहित्य का अनुशीलन राजनीति-सम्बन्धी अध्ययन के स्रोत के रूप में उल्लेखनीय है। जैनों के आचारांगसूत्र एवं बौद्ध दीर्घनिकाय, महावग्ग, चुल्लवग्ग, चुल्लवग्गजातक, दिव्यावदान और विनयपिटक जैसे ग्रंथों से हमें काफी सामग्री मिलती है। गणतन्त्र के सम्बन्ध में तो महत्वपूर्ण निर्देश बौद्ध ग्रंथों से ही मिलते हैं। दीर्घनिकाय को प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अनुशीलन के लिए एक महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जा सकता है। इसमें राज्य और राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएं मिलती हैं। इस ग्रंथ से इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन तब हुआ, जबकि राज्य संस्था के रूप में स्थापित हो चुका था। दीर्घनिकाय को हम ई० पू० तीसरी शताब्दी में रख सकते हैं। महावस्तु में राजा तथा राज्य से सम्बन्धित अनेक बातों का विश्लेषण है, किन्तु उस पर दीर्घनिकाय की छाप सुस्पष्ट है। जैन उत्तराध्ययनसूत्र में राजनीति की उसी परिपाटी का निर्वाह हुआ है, जैसी परिपाटी जातकों और शान्तिपर्व में देखने को मिलती है। जैन पुराणों में राज्य की उत्पत्ति के बारे में

निर्देश किये गये हैं। इस संदर्भ में सोमदेवसूरि द्वारा प्रणीत यशस्तिलकचम्पू अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है।

प्राचीन भारतीय राजनीति के अनुशीलन के लिए पतन्जलि-प्रणीत 'महाभाष्य' भी अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। जिस प्रकार पाणिनि के माध्यम से उनके समय (काल) के सम्बन्ध में हमें ज्ञात होता है, उसी प्रकार मौर्योत्तर भारत की राजनीति के बारे में पतन्जलि से अनेक नवीन निर्देश मिलते हैं। वराहमिहिर की 'वृहत्संहिता' भी गुप्तकाल के अध्ययन के लिए बड़े काम की है। पुराणों के अध्यायों में राजशास्त्र विषयक अनेक निर्देश मिलते हैं, किन्तु वहाँ प्राय: धर्मशास्त्र के विचारों का सारांश ही मिलता है। काव्य, नाटक एवं इतिहास ग्रंथों में प्रतिज्ञायौगन्धरायण, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, पन्चतन्त्र, हितोपदेश, कादम्बरी हर्षचरित, दशकुमारचरित, राजतरंगिणी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं, जिनसे तत्कालीन राजनीतिक विधारधारा तथा शासन-पद्धति पर प्रकाश पड़ता है। भास, कालिदास विष्णु शर्मा, वाण, दण्डी, कल्हण इत्यादि अपने समय की पृष्ठभूमि में लिख रहे थे। अत: स्वभावत: उनके ग्रंथों में हमें अपने अध्ययन के स्रोत मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त मध्य युग में राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी बहुत सारे ग्रंथों की रचना हुई, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—सोमेश्वर का अभिलषितार्थचिन्तामणि, भोज का युक्तिकल्पतरु, देवणभट्ट का राजनीतिकाण्ड, विजयनगराधिपति कृष्णदेवराय का आमुक्तमाल्यद और मित्रमित्र का राजनीतिप्रकाश। अधिकतर ग्रंथ पुरोहितों के कर्मकाण्ड की दृष्टि से लिखे गये हैं। राजनीति प्रकाश में राज्याभिषेक का वर्णन 100 पृष्ठों में है। सोमेश्वर का मानसोल्लास राजनीतिपरक ग्रंथ होने के बावजूद अपने-आप में अपूर्ण है। इन ग्रंथों के सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि ये ग्रंथ बिल्कुल पतनकाल की रचनाएँ हैं। इनमें मौलिकता का अभाव है; परन्तु राजशास्त्र की दृष्टि से इन ग्रंथों के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की रचनाओं का सर्वाधिक महत्व यही है कि इनमें ऐसे आचार्यों के उद्धरण मिलते हैं, जिनका अन्य किसी प्रकार से हमें पता नहीं है। शासन विषयक दृष्टिकोण से इन ग्रंथों का महत्व बहुत गिर जाता है। दक्षिण भारत में तमिल आदि भाषाओं में राजशास्त्र पर लिखी सामग्री की कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती है। निरुकुरुलसिलंप्पिदकरम् जैसे ग्रंथों में यत्र-तत्र राजा तथा मंत्रियों के विषय में कुछ उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय सिक्कों, अभिलेखों तथा ताम्रपत्रों से भी हमें प्राचीन भारतीय राजनीति के अध्ययन में काफी सहायता मिलती

है। पुरातत्त्व से प्राप्त सामग्री हमारे अध्ययन के लिए आधारभूत स्रोत मानी जा सकती है।

प्राचीन समाज तथा राजतंत्र पर पुरातत्त्व से पर्याप्त प्रकाश पड़ा है और हम अब इस स्थिति में हैं कि मानव-विकास को शृंखलाबद्ध रूप से उपस्थित कर सकते हैं—ग्रामों का उत्थान, शहरों का उत्थान, शासनविधान का विकास इत्यादि समस्याओं का निदान अब हम पुरातत्त्व की सहायता से कर सकते हैं। प्राचीन सिक्कों का बड़ा महत्व है। मौर्योत्तरकालीन सिक्कों से ही हमें तत्कालीन राज-व्यवस्था की जानकारी मिलती है। कुषाण सिक्कों के अध्ययन के बिना तो राज-नीति-सम्बन्धी बहुत बातें अधूरी ही रह जातीं। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणिंदे, पौधेय इत्यादि राज्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अपूर्ण ही रह जाता यदि उनके सिक्के न मिले होते।[1] गुप्त सिक्कों से गुप्तकालीन शासन-पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

किन्तु इस दिशा में सिक्कों से भी अधिक महत्वपूर्ण आधार अभिलेख हैं। मौर्य तथा गुप्तकाल के अनेक शिलालेख प्राप्त होते हैं। अशोक के अभिलेखों के अध्ययन के बिना हम मौर्य शासन की बहुत सारी बातें नहीं समझ सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि अशोक के अभिलेखों के प्रकाश में आने से हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा मैगास्थनीज की इण्डिका को समझने में आसानी हुई है। ये सभी एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। अशोक ने उत्तरी भारत पर 259 से 222 ई० पूर्व तक शासन किया और उसके शासन-काल में ही बौद्धों की प्रथम परिषद् हुई थी, जिसमें बौद्धों के धार्मिक सिद्धान्तों को निश्चित किया गया था। सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए चट्टानों और स्तम्भों पर राज-आदेश खुदवाये जिनके द्वारा उसने अपने को आनेवाली पीढ़ियों के लिए स्मरणीय बनाया।

तत्कालीन भारत की राजनीतिक, धार्मिक व भाषायी दशाओं के बारे में उनसे बहुत मूल्यवान जानकारी मिलती है। ये शिलालेख सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं—काठियावाड़ (सौराष्ट्र) में गिरनार अर्थात् गिरि-नगर से उड़ीसा में धौली तक, काबुल नदी के उत्तर में कपूर-दी-गिरि से खालसी तक। उनका अर्थ निकाला गया है और अनुवाद किया जा चुका है, साथ ही उन्हें पुस्तकों में भी स्थान मिला है। सन् 1896 इ० में बुद्ध के जन्म-स्थान के निकट स्तम्भ पर अंकित एक शिलालेख

---

1. अ० स० अलतेकर, : प्रा० भा० शा०-पद्धति, पृ० 19-20।

मिला। अशोककालीन ये शिलालेख भारतीय लेखन-कला के प्राचीनतम रिकार्डों में से हैं।[1]

प्रशासनिक सूचनाओं के रूप में भी अशोक के अभिलेखों का विशेष महत्व है। यथा—राजा और परिसा (परिषद्), न्याय-शासन, रज्जुक और महामात्र, राजत्व-सम्बन्धी विवेचन, जन-कल्याण की बातें, विदेशों के साथ सम्बन्ध, अशोक द्वारा प्रचलित सामाजिक नियम, कर-सम्बन्धी बातें, धर्म की व्याख्या आदि का विशद विश्लेषण, जो अभिलेखों में उपलब्ध है, वह अन्यत्र कहीं नहीं। इस दृष्टिकोण से अशोक का अभिलेख अपने आप में एक महत्वपूर्ण साधन है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में राज्य के द्वारा नियन्त्रण की जो बातें कही गयी हैं, उनका अक्षरशः समर्थन अशोक के अभिलेखों से हो जाता है। युक्त, प्रादेशिक परिषद्;पुरुष, व्रज, परिक्लेश आदि शब्दों का व्यवहार कौटिल्य के अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखों में हुआ है। मेगास्थनीज और अर्थशास्त्र जहाँ एक-दूसरे के पूरक हैं, वहाँ अशोक का अभिलेख उन दोनों का पूरक कहा जा सकता है। राज्य का सर्वोपरि प्रभाव तो तीनों साधनों में वर्णित है। इन तीनों साधनों के वैज्ञानिक अध्ययन से हमें मौर्य-कालीन राजनीतिक व्यवस्था का सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

मौर्योत्तर अभिलेख दो प्रकार के प्राप्त होते हैं—प्रथम वैसे अभिलेख जो सम्राटों द्वारा प्रकाशित हुए; द्वितीय वे जो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित किये गये। प्रशस्तियां एवं भूमिदान-सम्बन्धी ताम्रलेख भी हैं। खारवेल के हाथी-गुफा अभिलेख से पौरजानपद-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सातवाहन-अभिलेखों से सातवाहन शासन-प्रणाली की अच्छी जानकारी मिलती है। गुप्त-कालीन; गुप्तोत्तरकालीन तथा पालअभिलेखों से शासन-व्यवस्था सम्बन्धी बहुत सारी बातों का पता चलता है। इन अभिलेखों द्वारा विशेषतया कर-व्यवस्था-सम्बन्धी जानकारी मिलती है। तत्कालीन स्मृति और राजनीति विषयक ग्रंथों के आधार पर इन अभिलेखों का अध्ययन करने से सही स्थिति का पता लग

1. "The importance of these inscriptions can hardly be overrated for the value of the information to be derived from them about the political, religious and linguistic conditions of the age... these Asokan inscriptions are the earliest records of Indian writing.'

Arthur A. Macdonell, **A History of Sanskrit Literature**, pp. 28-29.

जाता है। इन अभिलेखों के अध्ययन से राज्य के शासन-विभाग, राज्य के अधिकारी, शासन-व्यवस्था के स्वरूप, कर-व्यवस्था, पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध; सम्राट् और सामन्तों के बीच सम्बन्ध, शासन संस्था के ध्येय इत्यादि की जानकारी भी मिलती है।

प्राचीन राजनीति शास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से विदेशी यात्रियों के विवरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मूल रूप से यूनानी तथा चीनी यात्रियों के विवरण बड़े महत्वपूर्ण है, जिनके अध्ययन के बिना इस सम्बन्ध में हमारी जानकारी अपूर्ण ही रह जाती। सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब में बहुत सारे गणराज्य थे, जिनका विवरण हमें ग्रीक इतिहासकारों और यात्रियों से प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मेगास्थनीज नामक एक यूनानी राजदूत था और उसने उस समय के भारत के सम्बन्ध में जो लिखा है वह हमारे लिए बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यद्यपि उसका अवशेष-मात्र उपलब्ध है फिर भी उससे तत्कालीन मौर्य शासन-प्रणाली का ज्ञान प्राप्त होता है। चूँकि हम मेगास्थनीज की तिथि से परिचित हैं, इसलिए इसका महत्व और भी बढ़ जाता है और मौर्य-इतिहास के लिए यह एक प्रामाणिक साधन हो जाता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, अशोक के अभिलेखों और मेगास्थनीज की इण्डिका के सम्मिलित अध्ययन से मौर्य शासन-पद्धति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान लगभग पूर्ण हो जाता है। नगर-शासन और सैनिक व्यवस्था का ब्योरेवार वर्णन हमें मेगास्थनीज से ही प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त मेगास्थनीज ने राजा के दैनिक जीवन, सभासदों के कार्य, मैजिस्ट्रेट्स के कर्त्तव्य, सिंचाई की व्यवस्था, राज्य के सर्वोपरि नियन्त्रण इत्यादि पर भी प्रकाश डाला है। सामाजिक तथा वार्षिक व्यवस्था पर इससे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार चीनी यात्री फाहियान और ह्वेनसांग के यात्रा विवरणों से भी गुप्त तथा हर्ष के काल की शासन-व्यवस्था पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। फाहियान ने मध्यदेश की शासन-व्यवस्था के बारे में लिखा है और ह्वेनसांग ने हर्ष की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में। वैशाली तथा दामोदरपुर से प्राप्त पुरातात्विक सामग्रियों की पुष्टि फाहियान के यात्रा-विवरण से हो जाती है। ये लोग बाहर से आये थे और अपने अध्ययन-भ्रमण के सिलसिले में इनलोगों ने जो कुछ देखा, उसी पर विचार व्यक्त किया।

राजनीति-विषयक बहुत सारी बातों को समझने के लिए हमें कतिपय ऐसे ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए, जिनमें प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था को समझने में आसानी होती है। कीथ और मैकडोनल द्वारा सम्पादित वैदिक इण्डेक्स

दिक्षितार द्वारा सम्पादित पुराणिक इण्डेक्स और जी० पी० मलालशेखर द्वारा सम्पादित बुद्धिस्ट इन्साइक्लोपिडिया भी इस दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

कालिदासकोश, महामहोपाध्याय पी० बी० कणे द्वारा प्रणीत हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (5 खण्ड), लक्ष्मण शास्त्री जोशी कृत धर्मकोश और हाल ही में प्रकाशित डा० दिनेशचन्द्र सरकार द्वारा प्रणीत इण्डियन एपिग्राफी और इण्डियन एपिग्राफिकल ग्लासरी भी अतिशय उपादेय हैं। इन सभी ग्रंथों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन-व्यवस्था के कुछ पहलुओं पर प्रकाश तो पड़ता ही है, तत्सम्बन्धी कतिपय विषयों को समझने में सुविधा भी होती है। अभिलेखों, स्मृतियों और आकर ग्रंथों में जो-कुछ ऐतिहासिक शब्द मिलते हैं। उनकी व्याख्या के लिए भी उपर्युक्त ग्रंथ उपयोगी हैं—जैसे, प्रणय, विष्टि, हिरण्य, दीनार, सन्धिविग्रहिक, सामन्त, करणिक, अमात्य, नायक, सचिव, चौरोद्धरणिक महामात्र, दण्डपाशिक, कोष्ठागारिक, वैठ इत्यादि। विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान से प्रकाशित 'वैदिक शब्दानुक्रमणिका' का स्थान इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।

(ग) स्रोतों का समीक्षात्मक विश्लेषण :—

प्राचीन भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति के अध्ययन के लिए साधन की कमी नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि उन साधनों का उपयोग किस क्रम से हो, क्योंकि जितने भी प्राचीन साधन उपलब्ध हैं, उनका सही ढंग से न तो वर्गीकरण हो सका है और न मूल्यांकन ही। जहाँतक तिथि—निर्णय और पाठ-सुधार का सम्बन्ध है, वे तो अभीतक उलझे हुए ही हैं। यही कारण है कि जब हम प्राचीन भारत के सम्बध में विचार करने लगते हैं तो हमें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जबतक प्रत्येक साधन का तिथिक्रम निश्चित नहीं हो जाता, तबतक यह कठिनाई बनी रहेगी और हमें सतर्कता से उनका उपयोग करना होगा। अतः हमें प्रत्येक काल के अध्ययन के लिए उस काल के साधनों का वर्गीकरण करना चाहिए, क्योंकि तभी हम वैज्ञानिक अध्ययन कर सकते हैं।

वेद चाहे जितने भी पुराने हों, दसवीं शताब्दी के पूर्व उसकी लिखित पांडु-लिपि नहीं मिलती है। अतः इतना तो मानना ही होगा कि जिस समय इन्हें लिपिबद्ध किया गया, उस समय तक इनकी रूपरेखा में पर्याप्त परिवर्तन आया होगा। इसलिए वैदिक साधनों के उपयोग के संदर्भ में इस बात को ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। ऋग्वेद से हमें विदध, सभा समिति, गण आदि के सम्बन्ध में सूचना मिलती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि उस पुस्तक के प्रथम और दशम खण्ड की रचना के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद है। ऋग्वेद की रचना पंचनद के आसपास हुई और बाकी वेदों की रचना कुरु-पांचाल क्षेत्र में।

में । ई० पू० 1000 तक की सामग्री के अध्ययन के लिए ऋग्वेद सहायक हो सकता है, परन्तु बाद का साहित्य ई० पू० 500 तक के लिए ही उपादेय है ।

प्राचीन ग्रंथों में बहुत सारी बातें बाद में जोड़ी गयी हैं । इसका साक्षात् प्रमाण 'तैत्तिरीय संहिता' है जिनके करीब 22 अध्याय प्रक्षिप्त हैं । ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों को हम ई० पू० 700 में रख सकते हैं । ई० पू० 700 और 500 के बीच उपनिषदों को भी रखा जा सकता है । उपनिषदों में यदा-कदा समितियों और जातीय व्यवस्थाओं का विवरण मिलता है ।

धर्मसूत्रों की रचना ई० पू० 500-2000 के बीच हुई । इसमें आपस्तम्ब और बौधायन को प्राचीन माना जा सकता है । धर्म-शास्त्र एवं धर्मसूत्रों में राजनीति की ब्रह्मवादी व्याख्या की गयी है । धर्मशास्त्र और धर्मसूत्रों की व्याख्या काफी दिनों तक लिखी जाती रहीं और इसमें राजनीति की बहुतेरी बातों का समावेश हुआ है । रामायण एवं महाभारत के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसी ही बातें हैं । ये ग्रंथ चाहे पुराने हों, परन्तु वास्तविकता यह है कि इन दोनों की रचना बाद में हुई और जब इन्हें लिपिबद्ध किया गया तब इनमें तत्कालीन बातें भी समाविष्ट हो गयीं ।

महाभारत में यवन, शक, पल्हव, हूण आदि का वर्णन मिलता है और इससे समय का अनुमान आसानी से किया जा सकता है । इसका राजधर्म-खण्ड बड़ा ही महत्वपूर्ण है । रामायण में अराजक राज्य का वर्णन मिलता है । इसमें राजा और राजनीति के सम्बन्ध में विवेचना है और इसके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसे गुप्तकाल में लिपिबद्ध किया गया है । महाभारत की तरह इसका भी प्रामाणिक संस्करण तैयार हो रहा है । महाकाव्यों की तरह पुराण में भी काफी हेरफेर देखा जाता है । पुराणों में वर्णित व्यवस्था बाद की व्यवस्थाओं से मिलती-जुलती है । ऐसा कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र, धर्मसूत्र, महाकाव्य और पुराण एक विशेष परम्परा का निर्वाह करते हैं और वह परम्परा ब्राह्मणवाद की है । धार्मिक ग्रंथ होते हुए भी इनमें राजनीति-सम्बन्धी बहुत सारी बातें हैं और ब्राह्मणों के दृष्टिकोण से सभी बातों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

विशुद्ध राजनीति के दृष्टिकोण से कौटिलीय अर्थशास्त्र का विशेष महत्त्व है, परन्तु उसकी प्रामाणिकता विवादास्पद अभीतक बनी है । कौटिल्य ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने राजनीति को धर्म के चंगुल से मुक्त करने का प्रयास किया और अपना राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करने में उन्होंने नैतिकता को स्थान नहीं दिया । कौटिल्य ने जिन पूर्वाचार्यों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ का उल्लेख

महाभारत के शान्तिपर्व में भी मिलता है। कौटिल्य के पश्चात् कामन्दक नीतिसार (500-800 ई० के मध्य) का स्थान है।

कौटिल्य को राजनीति का संस्थापक माना जा सकता है। उनके बाद भी उनका सर्वोत्कृष्ट प्रभाव बना रहा है। कामन्दक-नीतिसार कौटिल्य के ग्रंथ का छन्दोबद्ध संक्षेपीकरण मात्र है। इसके रचयिता का नाम अप्राप्त है। इसे अनुष्टुप छन्द में बांधा गया है। शासन-व्यवस्था का वर्णन इसमें नहीं है। कुछ लोग चन्द्र-गुप्त द्वितीय के मंत्री शिखरस्वामी को इस ग्रंथ का लेखक मानते हैं, किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है। विशाखदत्त और दण्डी ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। केवल वामन (800 ई०) ने इसका उल्लेख किया है। इसलिए बहुत लोग इसका समय 800 ई० ही मानते हैं। पूर्वोलिखित नीतिसार के अस्तित्व के सम्बन्ध में काफी सन्देह है। पंचतंत्र में राजकुमारों तथा भावी राजनीतिज्ञों के लिए छोटी-छोटी कहानियों में राजनीति के सिद्धान्त बताते गये हैं। इस साहित्य को पंचतंत्र में नयशास्त्र भी कहा गया है। मृच्छकटिक में भी शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी कुछ बातें मिलती हैं।

ये सभी ग्रंथ मूल रूप से राजाओं के लिए लिखे जाते रहे और इनमें राजतंत्र की बातें समाविष्ट हुईं। इनके रचयिता ब्राह्मण थे और वे अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही इनकी रचना करते थे। धर्मशास्त्र में धर्म की और अर्थशास्त्र में अर्थ की व्याख्या होती रही है और इनके आधार पर राजा का मुख्य कर्तव्य रहा है वर्णाश्रम धर्म का पालन। धर्मशास्त्रों तथा धर्मसूत्रों में राजा के साथ-साथ ब्राह्मणों का भी महत्व दिखलाया गया है और समाज उनके महत्व पर विशेष जोर दिया गया है। अर्थशास्त्र में राजा की प्रधानता पर बल दिया गया है। प्राचीन भारत के ब्राह्मण विद्वानों ने केवल नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से इन प्रश्नों पर विचार किया हैं। हाँ, कौटिल्य की बात अलग है, क्योंकि उन्होंने राजनीति को धर्म के नियंत्रण से मुक्त करने का प्रथम सफल प्रयास किया। कौटिल्य ने अपने समस्त पूर्वाचार्यों को परास्त कर दिया और अपनी एक नयी परम्परा चलायी, जिससे भौतिकवादी परम्परा को बहुत बड़ा बल मिला। चाणक्य की नीति का ही विधान है कि प्राचीन भारत में अत्याचारी राजा को मारना पाप नहीं समझा गया। कर्त्तव्यच्युत राजा को दण्ड देने का विधान और दुराचारी राजा को पागल कुत्ते की तरह वध्य माना इसी नीति की परिणति है।

दूसरा अध्याय

प्राचीन काल से प्राक्मौर्यकाल तक भारतीय शासन-पद्धति का सर्वेक्षण और उसका मूलभूत सिद्धान्त

प्राचीन भारत में शासन-पद्धति के पक्ष पर पर्याप्त ध्यान ही नहीं वरन् बल भी दिया गया था। प्राचीन भारत में प्रशासन-पद्धति का स्वभाविक एवं क्रमिक रूप से विकास हुआ। प्रशासन का प्रारम्भिक रूप वैदिक काल में स्थिर हुआ और मौर्यकाल में प्राचीन प्रशासन-पद्धति विकास की चरम सीमा पर पहुँची।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक वैदिक युग में भारत में प्राचीन यूनान के नगर-राज्य के समान छोटे-छोटे राज्य थे। वे राज्य वर्तमान जिलों से किसी भी हालत में बड़े नहीं रहे होंगे। वहाँ के निवासी यदु, पुरु तथा अन्य राजाओं को अपना पूर्वज मानते थे। उस समय राज्य की सबसे छोटी इकाई कुटुम्ब थी। कौटुम्बिक जीवन काफी सुसंगठित था। कुटुम्ब का बूढा व्यक्ति गृहपति कहलाता था। वह कुटुम्ब की समस्याओं का समाधान करता था। कई कुटुम्बों को मिलाकर एक ग्राम बनता था। ग्राम का अधिकारी ग्रामणी कहलाता था। उसके निर्वाचन के सम्बन्ध में ऋग्वेद से कोई जानकारी नहीं मिलती है। यह कहना कठिन है कि उसका पद वंशानुगत था या वह राजा के द्वारा मनोनीत होता था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि ग्रामणी का पद काफी ऊँचा होता था और वह ग्राम-शासन-व्यवस्था का कर्णधार होता था। 'विशः' एक अन्य भाग था। यह कई ग्रामों को सम्मिलित कर के बनता था। सम्भवतः यह स्थानीय तहसील (सब-डिविजन) या परगना था। कई विशों को मिलाकर 'जन' बना था। इसका प्रधान पदाधिकारी गोप कहलाता था। कई जन मिलकर राष्ट्र बनता था। देश के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया गया है।

उत्तर वैदिक काल में राज्यों के आकार पहले की अपेक्षा विस्तृत हो गये थे। ऋग्वैदिक काल में राज्य पंजाब तक सीमित थे और वे बहुत छोटे थे परन्तु अब राज्य भारत के अन्य क्षेत्रों में भी विकसित हो गये। कुरु-पांचालों का एक राज्य हुआ। कोशल, काशी और विदेह का भी विकास हुआ। अधिक सम्भव है कि उस समय एक राज्य का विस्तार सामान्यतः आधुनिक कमिश्नरी के समान रहा होगा। बहुत से विशाल एवं छोटे राज्यों की स्थापना करनी पड़ी होगी। कुछ ग्रंथों में 'अधिराज' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे मालूम पड़ता है कि एक बड़े राजा के अधीन कुछ अन्य

राजा भी राज्य करते थे। 'राजाधिराज', 'एकराट्' आदि शब्दों से जान पड़ता है कि कुछ बहुत बड़े-बड़े राजा भी थे, जिनके अधिन अनेक छोटे-छोटे राजा थे। कभी-कभी राजाओं को 'महाराज', 'सम्राट'—जैसी उपाधियों से विभूषित किया जाता था। लेकिन ऐसे सम्राटों के राज्य का विस्तार कितना विशाल था, यह बताना कठिन है।

राजा :—राजा के सम्बन्ध में ऋग्वेद में अनेक बातों का निर्देश है। राजा शासन-प्रबन्ध का कर्णधार होता था। प्रारम्भिक वैदिक काल में वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास, दुर्गहण, गिरिक्षित, पुरुकुत्स आदि अनेक राजा थे, जिनके राजवंश में वंशानुगतता प्रचलित थी। परन्तु कुछ ऐसे भी राजवंश थे जहाँ राजा के पद पर निर्वाचन होता था। ऋग्वेद के एक सन्दर्भ में विशों के द्वारा राजा के निर्वाचन का निर्देश है। जनता राजा के साथ एक संविदा करती है, जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता है कि वह अपनी प्रजा की सभी शत्रुओं से रक्षा करते हुए उसका न्यायपूर्वक पालन करेगा। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़े तो प्रजा को उसे पदच्युत करने का भी अधिकार था। परन्तु राजा का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानित था।

ऋग्वेद की ऋचाओं से भी राजा की महत्ता परिलक्षित होती है, साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि राजा के दैवी अधिकार में उस समय के लोगों का विश्वास रहा होगा। राजा के आदेश का पालन सभी लोग करते थे और जो लोग उसकी अवज्ञा करते थे उनके साथ शक्ति का प्रयोग होता था। लोगों में राजभक्ति की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। राजा से अनेक प्रकार की सहायता की आशा रखी जाती थी। राजा न्यायधीश का कार्य भी सम्पन्न करता था और दीवानी तथा फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमे तय करता था। वह अपराधियों को दण्ड देता था और इस कार्य में उसे गुप्तचरों की मदद मिलती थी। राजा दीन-दुखियों के कष्ट दूर करने का प्रयास भी करता था। प्रजा उसे उपहार दिया करती थी। एक स्थल पर यह भी उल्लिखित है कि जो राजा रक्षा चाहने वाले द्विजों की मदद करता है, उसकी रक्षा देवता करते हैं। इस प्रकार अपनी प्रजा की रक्षा करना शत्रुओं से युद्ध करना तथा शान्ति के समय यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना राजा के प्रमुख कर्त्तव्य माने जाते थे।

उत्तर वैदिक काल में राजतंत्र का बोलबाला था। राजा या सम्राट का पद बहुधा वंशानुगत होता था अथर्ववेद और शतपथब्राह्मण में राजा के निर्वाचन का निर्देश उपलब्ध है, परन्तु नृपनिर्वाचन प्रणाली का क्रमशः लोप दीख पड़ता है।[1]

1. अ० स० अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ० 279, 281।

कभी दस पीढ़ियों तक आनुवंशिक राजवंशों का उल्लेख आता है, जैसे—भृ जयवंश के सम्बन्ध में। पहले पुरोहित राजा का अभिषेक-मात्र करता था, किन्तु बाद में राज्यारोहण समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया जाने लगा।

ऋग्वेद में 'राजा' शब्द का प्रयोग बार-बार हुआ है, परन्तु राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। ऐतरेयब्राह्मण तथा तेतरीयब्राह्मण में दो कथाएँ प्रचलित हैं, जिनसे हमें राजा की उत्पत्ति के विषय में कुछ जानकारी होती है। ब्राह्मण साहित्य में देवासुर संग्राम की कथा वर्णित है जिसके अनुसार संग्राम के चलते ही किसी शक्तिशाली व्यक्ति की आवश्यकता हुई। किन्तु इन कथाओं की सामग्री इतिहास के कितनी निकट है यह कहना कठिन है। राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य कथायें भी प्रचलित है।

राजा के सुख-वैभव का स्पष्ट ज्ञान हमें ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि राजा, मित्र और वरुण हजार स्तम्भों वाले प्रसाद में निवास करते थे। भवनों की ऐसी विशालता के संकेत से यह ज्ञात होता है कि राजाओं के प्रासाद भव्य एवं सुन्दर होते थे। राजा बहुत सुन्दर वस्त्र पहनता था तथा गायक एवं पण्डित प्रत्येक समय उसका गुणगान किया करते थे। ऋग्वैदिक राजाओं की पदवी बहुत बड़ी नहीं थी। उनके लिए केवल राजा एवं 'राजन्य' पदवी का प्रयोग हुआ है। उस समय बड़ी-बड़ी पदवियों का प्रचलन नहीं था।

राज्याभिषेक :—ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा की राज्याभिषेक-विधि का विशद् रूप से वर्णन किया गया है और इस वर्णन द्वारा वैदिक काल के राजा तथा शासन-पद्धति पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। राजा की महत्ता का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हमें उसके अभिषेक सम्बन्धी उत्सव से प्राप्त होता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो 'राजसूय यज्ञ' का अनुष्ठान किया जाता था।

राजसूय यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजपद को नहीं प्राप्त कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—"राजा के लिए ही राजसूय है। राजसूय यज्ञ करने से ही वह राजा बनता है।"[1] सम्राट का पद प्राप्त करने लिए बाजपेय यज्ञ का विधान था। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है—"बाजपेय से सम्राट बनता है। राज्य हीन है--साम्राज्य श्रेष्ठ है। राजा सम्राट बनने की कामना करे।"[2] राज्याभिषेक के समय पृथवी, अग्नि, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, रुद्र, पशुपति, मित्र, वरुण आदि की पूजा, अभिषेक-सम्बन्धी अनुमति, वन तथा कृषि की रक्षा, शासन-संचालन, पशु रक्षा आदि धर्मरक्षण हेतु

1- "राज्ञ एव राजसूयं। राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति।" शतपथ 5-1-1-12

2. "सम्राट बाजपेयेन अवरं हि राज्यंपरं साम्राज्यम्।" शतपथ 5-2-1-13

किये जाते थे। राज्यारोहण के पहले किसी भी राजा के लिए ये समस्त व्रत धारण अत्यावश्यक था। इसके बाद अनेक प्रकार की पूजा की जाती थी। अभिषेक के समय राजा शपथ ग्रहण करता था कि यदि वह किसी प्रकार का अत्याचार प्रजा पर करे तो उसका समस्त पुण्य उसका लोक एवं परलोक तथा उसकी सन्तान आदि नष्ट हो जायं।

शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता हैं कि अन्त में ब्राह्मण राज्यारोहण की घोषणा करता था और स्पष्ट कहता था कि अमुक व्यक्ति अब हमलोगों (प्रजा) का राजा हुआ। उत्तर वैदिक काल में राजाओं पर राज्याभिषेक के समय अधिक उत्तरदायित्व प्रदान किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में यह निर्देश है कि राज्याभिषेक के समय राजा को यह कहा जाता था कि "तुम्हें (अभिषिक्त किये जानेवाले राजा को) यह राज्य प्रदान किया जा रहा है, ताकि तुम कृषि जनमंगल तथा उन्नति एवं समृद्धि में विकास करो।"

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि उत्तर वैदिक काल में (1) राजा का निर्वाचन अधिक प्रचलित नहीं था, (2) राजा को अनेक उत्तरदायित्व सौंपे गये थे, (3) राजा को अपने मंत्रियों पर आश्रित रहना पड़ता था, और (4) सभा और समितियां उसकी निरंकुशता पर नियंत्रण रखने का कार्य करती थी।

राजा के मंत्री व उच्च अधिकारी :—

राजा शासन का प्रमुख एवं कार्यपालिका का अध्यक्ष होता था। परन्तु प्रशासन के काम में उसे अनेक उच्च अधिकारियों से सहायता मिलती थी। ऋग्वेद में कुछ पदाधिकारियों का उल्लेख है। उनमें सबसे प्रमुख पुरोहित होता था। अन्य उच्च अधिकारियों में सेनानी एवं ग्रामणी के नाम आते हैं। इनमें हम राजा का वरण करनेवाले, राजकर्तारः या राजनः को भी गिन सकते हैं। 'पुरोहित' शब्द का अर्थ है 'आगे स्थापित'। शिक्षक, पथप्रदर्शक, ऋषि तथा मित्र के रूप में वह राजा का मुख्य साथी था। पुरोहित का मुख्य कार्य राजा के घर में पुरोहिताई करना था। वह धार्मिक कार्यों में राजा का मार्गदर्शक था ही, राजनीति में भी वह राजा का नेतृत्व करता था। वह रणक्षेत्र में राजा के साथ जाता था और उसकी रक्षा एवं जय के लिए देवों की स्तुति करता था। कीथ ने कहा है—वैदिक पुरोहित ब्राह्मण राजनीतिज्ञ का पूर्वज था। प्राचीन वैदिक राज्य में विश्वामित्र या वशिष्ठ सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व था।[1]

---

1. In the scheme of Government, the Purohita or the priest occupied a position second to none in weight and dignity. 'The Vedic Purohita', as Keith puts it, 'was the fore-unner of the Brahamana Stareman.....there is no reason to doubt that a Visvamitra or a Vasistha was a most important element of the Government of the early Vedic realm.'
—Beni Prasad, **State in Ancient India**, p. 22.

सेनानी[1] एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी था, जो सेना का अध्यक्ष होता था। वह सैन्य संचालन का कार्य करता था एवं युद्धस्थल पर 'राजा' के साथ विद्यमान रहता था। सम्भवतः उसकी नियुक्ति राजा स्वयं करता था। ग्रामणी[2] प्रशासन एवं सैनिक कार्यों के लिए ग्राम का नेता अथवा प्रमुख व्यक्ति होता था। राज्य में उसकी संख्या बड़ी होती होगी। इम्प, समाचारवाहक दूत तथा रक्षा के प्रबन्धकों का वर्णन मिलता है, जो बड़ी कुशलता के साथ अपना कार्य सम्पन्न करते थे। डा० राधा कुमुद मुखर्जी ने पुरोहित सेनानी व ग्रामणी को वैदिक राजा के मंत्री के रूप में माना है। राजा के

---

1. Senani; the leader of the army' is the title of the royal general in the Rig Veda (VII. 20. 5; IX. 96. 1; X 84. 2.) He is also referred to in the Yajurveda Samhitas and Brahmanas (Yaj. Sam. XV. 15; Kath. Sam. XVII. 9; Mait. Sam, II 8. 10; Sat. Brah. VIII, 6. 1. 21). He is also mentioned as one of the Ratnins of the King (Tait., Sam. I, 8. 9. 1); Tait. Brah. I, 7. 3. 4; Mait. Sam. II, 6. 5; IV. 3. 8; Kath. Sam. XV, 4; Sat. Brah. V, 3. 1. 1). Presumably he was appointed by the King and not by People to command in War (Vedic Index, II. p. 472). In the Aitereya Brahmana, this official is called Senapati. The qualities of a Senapati are described in the Mahabharata (Sabha. 86. 29-30); Arrhasastra II, 30 and also in the Puranas Matsya-25, 8-10; Agni ccxx, 1 ff). The terms 'Senani' and 'Senapati' occur in later records as well. Both have to be taken as synonymous.

2. The 'gramani' as the Leader of the Village. is referred to in the Rig Veda (X. 62. 11; 107, 3) and often in the later Samhitas and in the Brahmanas (AV. III. 5. 7; Tait. Samh., ii, 5, 4. 4), Mait. Sam. 1. 6. 5. (Grama—nithya 'the rank of Gramani'; Tait Sam. VII-4. 5-2. Vaj. Sam. XV. 15; Tait. Brah. 1. 1. 4. 8; Sat Brah. III. 4. 1. 7); Vedic Index II 247). According to Zimmer, the gramani had military functions only, and he is often connected with senani (Alt. Leb. 171). Presumably there must have been many gramins in a Kingdom, although the taxts contempates only one in the royal entourage.

मंत्रियों में एक ही ग्रामणी का उल्लेख आया है जो सम्भवतः गांव की जनता और उसके हितों का प्रतिनिधि था।[1]

उत्तर वैदिक काल में अनेक राज्याधिकारियों का उल्लेख मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि राज्य कार्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया था। इन अधिकारियों को उस 'रत्निन' कहा जाता था। यह उल्लेखनीय है कि 'रत्निन' सम्भवतः उच्च कोटि के ही अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त अन्य साधारण अधिकारी भी होंगे। रत्नियों की एक समिति राज्य-संचालन में राजा की सहायता करती थी। पंचविंश[2] ब्राह्मण में आठ ऐसे वीरों का उल्लेख किया गया है, जो राज्य में प्रधान स्थान रखते हैं। वे वीर निम्नलिखित हैं—(1) राजभ्राता, (2) राजपुत्र, (3) राजपुरोहित, (4) राज-महिषि, (5) सूत, (6) ग्रामणी, (7) क्षात्र, तथा (8) संग्रहीता।[3] इनके अतिरिक्त राजन्य, सेनानी, मागयुह, अक्षावाय, तक्ष, रथकार तथा गोविकर्त्ता का उल्लेख मिलता है। रत्नियों में जो संग्रहीता था वह कोषाधिकारी और जो भागदुक था वह कर वसूल करने वाला मुख्याधिकारी या अर्थशास्त्र का समाहर्त्ता रहा होगा। सेनापति, कोषाध्यक्ष, ग्राम पंचायत के मुखिया आदि उस समय मुख्य पदाधिकारी माने जाते थे। अक्षावाय राजा का जुआ खेलने के समय का साथी होगा।[4] रथकार भी महत्त्वपूर्ण अधिकारी था। ग्रामणी गांव का प्रमुख होता था। वह दीवानी तथा फौजदारी मुकदमे देखता था। ग्रामणी पर राजा का नियंत्रण बना रहता था।

सभा-समिति:—डा० जायसवाल का कहना है कि आर्यों के प्राचीनतम साहित्य, वेद में हम पाते हैं कि उस काल में राष्ट्रीय जीवन और गतिविधियों को लोकप्रिय

---

1. रा० कु० मुखर्जी (अनु० वा० श० अग्रवाल), पूर्वोक्त, पृ० 82।
2. As an adjective the word denotes a strong person, or a hero. It is mentioned in that sense in Rig Veda (I. 18. 4; 114. 8 etc.) and later on (AV. II. 26. 4; III. 9. 8.). The Panchavimsa Brahamana gives a list of eight Viras of the King constituting his supports and entourage (XIX. 1. 4). These include the King's brother, his son, Purohita, mahishi, Suta, gramani, Kshattri and Samgrahitni (Vedic Index II, p. 317).
3. "अष्टो वे वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति,
राजभ्राता च राजपुत्रश्च पुरोहितश्च महिषी
च सूतश्च ग्रामणी च क्षत्ता संग्रहीता चैते च वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति"
पञ्चविंश 19-1-4
4. अ० स० अलतेकर, पूर्वोक्त, पृ० 282।

सभाओं व संस्थाओं द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था। वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से ही ज्ञात होता है कि तत्कालीन प्रायः सभी राज्यों में लोक सभाएँ होती थीं, जो राजाओं पर नियंत्रण रखती थीं। वैदिक काल में राष्ट्रों का शासन राजा अकेला नहीं करता था, अपितु उसकी सहायता के लिए सभा और समिति नाम की दो संस्थाएँ विद्यमान थीं। ऋग्वेद का औसत राज्य ग्रीस के नगर-राज्यों की भाँति विस्तार में कुछ वर्गमील से अधिक नहीं थे। इनकी राजधानी इनमें अंतर्भूत ग्रामों से कोई खास बड़ा नहीं होती थी। प्रत्येक ग्राम में जनता की 'सभा' होती थी और राजधानी में सम्पूर्ण राज्य की केन्द्रीय लोकसभा होती थी जिसका नाम समिति था।

'सभा', और 'समिति' का वैदिक काल में बड़ा ऊँचा स्थान था। एक सूक्त में उन्हें प्रजापति की जुड़वा 'दुहिताएँ' कहा गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि लोग समझते थे कि ये ईश्वर निर्मित सनातन संस्थाएँ हैं और यह मानते थे कि यदि समाज के आदिकाल से नहीं तो कम-से-कम राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ये भी अस्तित्व में आयीं। वैदिक कालीन भारत के गाँव-गांवमें ये संस्थाएँ विद्यमान थीं और राजनीतिक एवं विद्वान् की सबसे बड़ी आकांक्षा होती थी कि समिति उसकी योग्यता स्वीकार करे।[2] इतना ही नहीं विवाह के समय यह मनाया जाता था कि नव-वधू भी अपने वक्तृत्व से समिति को वश में कर सके।[3]

वैदिक वाङ्मय में तीन प्रकार की सभाएँ मिलती हैं, 'विदथ',[4] 'सभा' और 'समिति'। 'विदथ' शब्द -विद्' धातु से निकला है और इसका अर्थ संभवतः विद्वानों की सभा है। 'विदथ' को 'जन-सभा (फाक असेम्बली) कहा गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में सब सजातों के जमाव का नाम ही विदथ था और उसी विदथ से 'समिति' और 'सभा' निकली। सभा और समिति राजनीतिक संस्थाएँ थीं। कीथ के अनुसार समिति वह संस्था थी, जो जन के कार्य और आवश्यकताएँ सम्पादित करती थी और 'सभा' अधिवेशन का स्थल थी, जहाँ अन्य सामाजिक कार्य सम्पन्न होते थे। परन्तु यह मत अमान्य है, क्योंकि अथर्ववेद में दोनों को पृथक् संस्थाओं के रूप में माना गया है :

---

1. सभा वां मांसमिनिश्वावतां प्रजापतेर्दुहितरो संविदाने। अ० वे०, 7-12-1
2. ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा वधि मूम्याम्।
   ये संग्रामाः समितिपस्तेषु चारु वदाम्यहम्। अ० वे०, 12-1,-56
3. वशिनी त्वं दिथमावदासि। ऋ० वे०, 10. 85. 26.
4. R. S. Sharma – **Aspects of Political Ideas & Institutions in Ancient India**—article on **Vidatha.**

सभा और समिति एक ही संस्था है या दो भिन्न-भिन्न संस्थाएँ और यदि भिन्न-भिन्न हैं तो उनका अधिकार और कर्त्तव्य क्या था, इस विषय में इतिहासज्ञों में मतभेद है। लुडविग का मत है कि 'सभा' में पुरोहित, धनिक आदि उच्च वर्ग के लोग सम्मिलित होते थे, और 'समिति' में साधारण लोग रहते थे। जिमर के मतानुसार 'सभा' ग्राम संस्था थी और 'समिति' पूरे 'जन' की केन्द्रीय परिषद् थी। सभा और समिति में क्या भेद था, यह वैदिक साहित्य से स्पष्ट नहीं होता। किन्तु वैदिक मन्त्रों का अनुशीलन कर विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समिति सभा की तुलना में एक बड़ी संस्था थी और यह माना जाता था कि वह सम्पूर्ण विशः या प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। सम्भवतः राष्ट्र के अन्तर्गत सब ग्रामों के ग्रामणी उसमें सम्मिलित होते थे और साथ ही विशः के कतिपय प्रमुख व्यक्ति—सूत, रथकार व अन्य शिल्पी आदि भी उसमें उपस्थित होते थे। राजा भी समिति में उपस्थित होता था। एक मन्त्र में राजा के समिति में शामिल होने के लिए जाने का निर्देश है।[1] राजा भी समिति में उपस्थित होता था। समिति के सभापति को ईशान नाम से सम्बोधित किया जाता था। सामूहिकता की भावना सर्वत्र व्याप्त थी।[2] 'सभा' समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी और कतिपय विशिष्ट व्यक्ति ही सम्मिलित होते थे। राष्ट्र के प्रधान न्यायालय का कार्य भी सभा द्वारा ही किया जाता था।

उत्तर वैदिक काल में राजा की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए सभा और समितियाँ थीं। सभा सम्भवतः समाज के कुछ उच्च तथा भद्रजनों की संस्था थी। यह न्याय सम्बन्धी कार्यों की देखरेख करती थी। किन्तु समिति केवल एक बड़ी और जनसाधारण की संस्था थी। शासन के क्षेत्र में दोनों संस्थाओं का महत्व था और राजा को इनके आदेशों का पालन बहुत दूर तक करना पड़ता था। अथर्ववेद के प्रमाण से स्पष्ट होता है कि 'सभा' और 'समिति' की कृपा के लिए राजा हमेशा प्रार्थना किया करता था। उत्तर वैदिक साहित्य में राजा के मनोनुकुल रहने तथा समिति पर राजा का प्रभाव जमाने के लिए अनेक प्रार्थनाएँ उल्लिखित हैं। इसी तरह 'सभा' भी महत्वपूर्ण संस्था थी। स्वयं प्रजापति इसके बिना काम नहीं कर

---

1. "परि सद्भाव पशुमान्ति होता राजा न सत्यः समिति रियालः।"
ऋग्वेद 9-92-6

2. "Assemble, speak together, let your minds be all of one accord. The place is common, common the assembly, common the mind, so be their thoughts united. A common purpose do I lay before you, one and the same be your resolve, and be your mind of one accord. United be the thoughts of all that all may happily agree".—**Rig-Veda**.

सकता था। सभा में वाद-विवाद के पश्चात् शासन की समस्याओं का समाधान किया जाता था। सभा की कार्यवाही के सम्पादन के लिए एक सभापति होता था। अथर्ववेद से ही यह भी स्पष्ट होता है कि समिति कभी-कभी राजा से किसी विषय पर सहमत भी नहीं होती थी। जैसे-जैसे युग बीतता गया, सभा-समिति का महत्व धीरे-धीरे समाप्त होता गया। अभी तक इनके विलुप्त होने का कारण स्पष्ट नहीं हो पाया है। ब्राह्मण साहित्य में बहुत कम स्थलों पर इन संस्थाओं का उल्लेख हुआ है।

न्याय-व्यवस्था :—वेदों में न्याय-प्रशासन सम्बन्धी विचारों का बहुत ही कम उल्लेख है। जो कुछ भी है, उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि सभा न्यायदान का कार्य करती थी और सम्भवतः राजा भी कुछ न्यायिक कार्य करता था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में 'मध्यमशी' शब्द आया है, जिसका अर्थ सम्भवतः पंच निर्णय देनेवाला अथवा मध्यस्थ था। राजा के प्रति द्रोह को अत्यधिक गम्भीर अपराध माना जाता था और उसके लिए पुरोहित को भी मृत्युदण्ड दिया जा सकता था। तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रकार के अपराधों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के जुर्माने किये जाते थे। कानून के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि राजा उसका निर्माता नहीं था। गौतम के अनुसार 'नियमों का व्यवहार या न्यायकर्म वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग, पुराण और उपवेदों के अनुसार नियमित होना चाहिए।' सूत्रों में व्यवहार-सम्बन्धी कानूनों का विवेचन राजा के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत किया गया है। व्यवहार-कानून के मुख्य विषय कर-ग्रहण और दायमान ही थे। दण्ड या फौजदारी कानून के क्षेत्र में अभिघात, व्यभिचार और चोरी मुख्य अपराध थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि यदि हत्या, चोरी या भूमि का अपहरण करे तो उसकी सम्पत्ति छीनकर उसे वध-दण्ड दिया जाय। यदि ब्राह्मण पुरोहित वैसा कार्य करे तो उसे अन्धा कर दिया जाय। ब्राह्मण को गाली देने वाले क्षत्रिय पर 100 और वैश्य पर 150 कार्षापण दण्ड हो, किन्तु यदि ब्राह्मण क्षत्रिय को गाली दे तो 50 और वैश्य को गाली दे तो 25 कार्षापण दण्ड भरे, पर जो शुद्र के साथ वैसा व्यवहार करे वह साफ छूट जाय, आदि।[1] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में न्याय-व्यवस्था पूर्णतया प्रारम्भिक अवस्था में थी।

वैदिक काल में शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न प्रकार के पदाधिकारी होते थे। सम्भवतः उनलोगो का अपना अलग-अलग विभाग रहा होगा। सेनानी के हाथ सेना का प्रबन्ध था। दूत या प्रहित लोग

1. रा० कु० मुकर्जी (अनु० श० अग्रवाला), पूर्वोक्त, पृ० 36-37

जासूसी का काम करते थे। ग्रामणी भी एक प्रमुख सैनिक अधिकारी होता था। न्याय का कार्य राजा स्वयं सम्पन्न करता था। पूर्ववैदिक काल में राजा का न्याय-सम्बन्धी अधिकार बढ़ गया था। ग्राम्यवादिन् सम्भवतः गांव का न्यायाधीश होता था'। पंचायतें झगड़ों का निर्णय करती थी। अपराधों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। राजद्रोह गंभीर अपराध समझा जाता था, जिसके लिए ब्राह्मण तक को प्राण-दण्ड दिया जाता था। आय के साधनों में भूमि-कर और व्यापार-कर बहुत ही प्रमुख थे। धनी वर्ग से कर वसूलने का उल्लेख वैदिक साहित्य में किया गया है।

रामायण कालीन शासन-व्यवस्था :—रामायण कालीन राज्य में राजा का स्थान सर्वोपरि था। राजा अपनी प्रजा का पालन करने में सतत प्रयत्नशील रहता था। राजा पर ब्राह्मणों का प्रभाव अपेक्षाकृत बढ़ गया था। शासन-प्रबन्ध महाभारत सा ही देखने को मिलता है।[1] बड़े-बड़े मामलों में राजा अपनी प्रजा से राय ले लेता परन्तु उसे मानना या न मानना राजा की इच्छा पर निर्भर करता था।[2] राजा का कर्त्तव्य बहुत विस्तृत होता था। कृषकों की सहायता, अतिथि-सम्मान, जनता का बौद्धिक विकास इत्यादि करना पड़ता था। उनकी सुरक्षा का पूर्ण भार उसी पर था। राजा का जनता में काफी सम्मान था, तथा जनता उसे बहुत ऊँची दृष्टि से देखती थी। अयोध्याकाण्ड में तो यहाँ तक कहा गया है कि जहाँ राजा नहीं है वहाँ न धर्म है, न सुख है, न कुटुम्ब है और न ब्याह है; राजा ही सत्य है, राजा ही नीति है—राजा ही मां है, राजा ही बाप है; राजा ही सबका कल्याण करता है।[3]

महाकाव्य के प्रमाणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मध्यदेश का राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। वह अपने राज्य की कार्यवाही एक सभा की सहायता से सम्पादित करता था, जिसमें साधारणतः उस वंश के राजकुमार और सैनिक सरदार रहते थे। पुरोहितों और अफसरों या सूत जैसे निम्नतर वर्गों के प्रतिनिधियों को शामिल कर परामर्शदाताओं में कभी-कभी वृद्धि हो जाती थी कुछ जातीयों में सब लोगों को सभा में जाने का अधिकार था, जो इस प्रकार एक लोक-सत्तात्मक सभा थी, न कि बड़े लोगों और रईसों की परिषद्। उन राज्यों में भी, जहां लोक-सत्तात्मक सभा होने के यथेष्ट प्रमाण नहीं मिलते हैं, राजा ब्राह्मणों, निगमों के श्रेष्ठ जनों और सर्व-साधारण की अभिलाषाओं का सम्मान करता था। उसे वही करना

---

1. बालकाण्ड 5-7-13 अयोध्याकाण्ड 12 आदि
2. अयोध्याकाण्ड 17-82.
3. अयोध्याकाण्ड 67.

पड़ता था, जिससे प्रजा प्रसन्न होती थी। अपने कर्त्तव्य के उचित पालन के लिए उसे वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करता पड़ता था।

रामायण तथा कई जातक कथाओं में उल्लेख मिलता है कि काशी - कोसल में राज कर्मचारियों में पुरोहित का विशेष महत्त्व था। एक सूत्र ग्रंथ के अनुसार एक व्यक्ति एक समय में काशी, कोसल और विदेह का पुरोहित था। एक पुरोहित का पद योद्धा एकराट् के पद का ब्राह्मण प्रतिरूप है। इसके प्रतिकूल कुरु-पांचाल और मत्स्य देश में यह सेनापति के पद के समक्ष गौण था, जो राजपद से शायद ही नीचा था। सेनापति प्रायः राजवंश या राजा के समान पद का व्यक्ति होता था और राजा की तरह सैनिक कार्यों के अतिरिक्त देश के कुछ भागों में इसे न्याय-सम्बन्धी कार्य भी करना पड़ता था।

'महामात्य' या महाभाग नामक उच्च अधिकारियों के एक वर्ग का उदय इस काल में प्रशासन-सम्बन्धी विकास की सबसे प्रमुख विशेषता है, जो कि वैदिक ग्रंथों में अज्ञात है और मौर्य तथा सातवाहन युगों के बाद धीरे-धीरे लुप्त होता दिखाई पड़ता है। उनसे कई तरह के काम लिये जाते थे। कुछ सामान्य सर्वार्थक कार्यों की देखभाल करने (सर्वार्थक) थे। दूसरे न्यायकर्त्ता (व्यावहारिक) थे। तीसरे सेना का निरीक्षण करनेवाले (सेना-नायक) थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे महामात्य थे, जो भूमि-सम्बन्धी माप करनेवाले (रज्जुग्राहक) या उपज में राजा के हिस्से की माप करनेवाले (द्रोणिमापक) होते थे।

राजा के मित्र और बन्धु, अधीन राजा, सैनिक, नेता और पुरोहित राजा को सलाह देते, सभाओं का संचालन करते, सेना का नेतृत्व करते और राजा के प्रतिनिधि के रूप में शासन चलाते थे। विभिन्न श्रेणियों के इन कुलीन पुरुषों के नाम इस प्रकार थे—[1]

1. I. 142. 2 ff; 49. 23; V. 35. 14. 20; XII. 83,22; 57. 23, XII. 121, 46; See also Ramayana, VI. 3. 13 According to Hopkins, the Later Epic, and especially the Ramayana, gives the impression that the ministers and all the councillors of the king are of the priestly caste (cf. XV. 5. 20—mantrinas—chaive Kurvtha dvijan). We often find Councillor and Priest of Synonymous terms (JAOS. XII. p. 100). Although the priestly council decides the matter of succession, the nobles of military caste are the real advisers of the king in all matters, not purely judicial or spiritual. The mantrins or cabinet councillors consist chiefly of these

1. मंत्री—मंत्री-परिषद् के सदस्य
2. अमात्य—सामान्य अधिकारी
3. सचिव—सर्वोच्च सैनिक अधिकारी
4. पार्षद्—परिषद् के सदस्य
5. सहाय—राजा के सहायक
6. अर्थकारी—राजकार्यों के उत्तरदायी अधिकारी
7. धार्मिक—न्यायाधिकारी

रामायण में 18 पदाधिकारियों का उल्लेख है, जो तीर्थ[1] कहलाते थे। उनके नाम ये हैं—

---

27 पृष्ठ से लगातार

nobles. Hopkins proposes that the term 'mantrin', usually restricted to members of the royal council, though generally understood of priests, is not confined even by commentators to such an interpretation. It may apply even to general officers (ibid. p. 101). In the Ramayana amatya occurs in true general sense while Sachivas are distinguished from the mantrins (Yuddha—Kanda, 130. 17. 20; See also Jayaswal, **Hindu Polity**, p. 284). As Hopkins rightly points out, absence of defined titles and functions among the ministers makes it imposible to defferentiate 'strictly the different values of those titles'. The functions run into each other and even the number of the bodies concerned is not given consistently (**op. cit.**, p. 101), It may rightly be suggested that the mantrin was the the highest official offering secret advice, followed by amatyas and Sachivas. According to the Santiparva, 37 Sachivas are to be appointed-including four Brahmi s, eight Kshatriyas, twentyone Vaisyas, three Sudres, and one Suta, 86. 7-9). cf Kanel **History of Dharma Sastras,** III, pp. 104 ff).

1. II. 5. 38. cf. R. II. 109. 49; Manu. VIII. 3. The term tirtha is used in the sense of pilgrimage centres.

Gonda suggests that the title was first given to Sacrosanct officials such as the Purohitas and the chief Judge, and developed gradually to include others (quoted by Spellman, op. **cit.**, p. 80 n). As the centres of pilgrimage are remotely situated so are different wings of the administrative machinary. All the tirthas did not constitute the Council of ministers. In fact, some of the officials, especially the warden of the forts—durgapala, the warden of marches-rashtrantapalaka and the conservator of forests-atavipalaka had nothing to do in the State capital, nor had they anything in common with the others.

1. मंत्री —परिषद् का प्रधान
2. पुरोहित—मुख्य यज्ञादि कार्य करनेवाला
3. युवराज
4. द्वारपाल
5. चमूपति—सेनापति
6. अन्तर्वंशिक—अन्तःपुर का अधिकारी
7. कारागाराधिकारी
8. द्रव्यसंचयकृत—मुख्य प्रबन्धक
9. कृत्याकृतोषु चार्थानाम् विनियोजक—धन का ठीक प्रकार व्यय करनेवाला
10. प्रदेष्टा—मुख्य न्यायाधीश
11. नगराध्यक्ष
12. कार्यनिर्माणकृत—निर्माण विभाग का मुख्य अधिकारी
13. धर्माध्यक्ष
14. सभाध्यक्ष—सभा का प्रमुख
15. दण्डपाल—दण्ड-व्यवस्था का मुख्य अधिकारी
16. दुर्गपाल—किलों का मुख्य अधिकारी
17. राष्ट्रान्तपालक—सीमान्त प्रदेशों का मुख्य अधिकारी
18. अटवीपाल—वन विभाग का मुख्य अधिकारी

इन 18 तीर्थों का विवरण अयोध्याकाण्ड में मिलता है।[1]

महाभारतकालीन शासन-व्यवस्था :—

महाभारत में 'राजा' और 'अधिराज' दो शब्द आये हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि कुछ तो बहुत बड़े-बड़े राजा थे, जो सम्राट या अधिराज कहलाते थे और कुछ उनके अधीन छोटे-छोटे राजा थे। 'सभापर्व' में राजा तथा अधिराज का उल्लेख है।[2] इसी प्रकार 'अश्वमेध पर्व' में भी अनेक राजाओं को अपनी प्रभुता स्वीकार कराकर अश्वमेध यज्ञ करनेवाले सम्राटों या अधिराजों का उल्लेख है।[3] राजाओं को आन्तरिक विषयों पर पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी, परन्तु कभी-कभी राजा तथा अधिराज में अनबन भी हो जाय करती थी।[4]

---

1. अयोध्याकाण्ड 100.
2. सभापर्व 14. 45. 43. 15.
3. अश्वमेधपर्व 137.
4. शान्तिपर्व 70. 30. 31. सभापर्व 5. अश्वमेधपर्व 5. 12.

राजा का पद काफी ऊँचा माना जाता था।[1] उसे देव तुल्य समझा जाता था। परन्तु साथ ही उस पर काफी उत्तरदायित्व भी लादा गया था। एक स्थल पर उल्लेख है कि दुष्ट राजा को जनता पदच्युत कर देती थी या उसको 'पागल कुत्ते' की भांति मार डालती थी।[2] कुरूप एवं दुश्चरित्र राजा के स्थान पर नये राजा को मूर्धाभिषिक्त करने का प्रमाण महाभारत में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।[3] प्रजा का राजनीति में काफी हाथ था। वह किसी भी महत्त्वपूर्ण अवसर पर आन्दोलन द्वारा राजा को सत्कार्य के लिए बाध्य कर सकती थी। परन्तु दूसरी ओर चरित्रवान् राजा प्रजा के लिए देवता था। वही इन्द्र, शुक्र और वृहस्पति था। 'वनपर्व' 185 तथा अन्यत्र इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राजा के कर्त्तव्य भी बहुत विस्तृत थे। शान्तिपर्व में वर्णित उसके कुछ प्रमुख कर्त्तव्य इस प्रकार थे—(1) कृषि भूमि तैयार करना, (2) सिचाई की व्यवस्था करना, (3) कृषकों को तकावी देना, (4) सड़क-निर्माण कराना, (5) दान देना, (6) शान्ति स्थापना करना, (7) प्रजा के नैतिक उत्थान में सहायक होना, आदि।

तत्कालीन शासन-व्यवस्था की जो रूप-रेखा महाभारत से प्राप्त होती है, उसके आधार पर हम उसे पूर्ववर्त्ती कालों से उन्नत मान सकते हैं।

मंत्री-परिषद् :—राजा की निरंकुशता पर रोक-थाम करनेवाली संस्थायें 'मंत्री-परिषद्' और 'सभा' थीं। मंत्री-परिषद् की अनुमति बिना राजा कोई महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर सकता था। प्रायः साधारण कार्यों में भी वह मंत्रणा लेता था। महाभारत[4] के अनुसार 'मंत्री-परिषद्' में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य,

1. शान्तिपर्व 67. 21. 22, 30. 36. वनपर्व 183. सभापर्व 5. आदि।
2. अहं वा रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमियः स सहंस्थनिहंतव्यः श्वेव श्लेष्मादः आतुर महाभारत 13, 96, 35.
3. शान्तिपर्व 67. 21. 22, 30. 36. वनपर्व 183.
4. XII, 85, 6-11. The strength of the ministry was never uniform, According to the latet Smritikara, Manu, it shonld consist of 7 or 8 ministers (VII. 54). From the Arthasastra, we learn that the Manava, the Barhaspatya and the Aussnasa schools were in favour of a ministry of 12, 16 and 20 respectively (BKI, Chap. 15). Both Manu and Kautilya agree that the actual number of ministers should depend on the needs of the situation (Manu. VII. 61; Kaut. I Chap. 15). A smaller cabinet

तीन शूद्र तथा एक सूत का एक सचिवालय होता था। कुल सैंतीस मंत्री होते थे। इस सचिवालय में से ही सदस्यों की एक परिषद् बनाई जाती थी। राजा प्रत्येक दिन अकेले या मंत्रियों के साथ सभा-भवन या मंत्रिगृह जाता था और अपने मंत्रियों के साथ मंत्रण एवं परामर्श करता था।[1]

परिषद् के अतिरिक्त 'सभा' का भी उल्लेख किया गया है, जिसका प्रधान 'सभाध्यक्ष'[2] होता था। राजा के पधारने के बाद ही पुरोहित सभा में पधारता था। सभा में आने के पूर्व राजा अपने मंत्रियों से परामर्श कर लेता था और उसी मंत्रणा पर सभा की स्वीकृति ली जाती थी। सभा में पुरोहित, अधिकारी वर्ग, मंत्री और राजा के बान्धव उपस्थित रहते थे—इससे राजा के दरबार का संकेत मिलता है। महाभारत के सभापर्व में कुरुदेश की सभा का वर्णन है, जिसमें प्रधानतः ब्रह्मण और क्षत्रिय वर्ण के व्यक्ति ही उपस्थित होते थे। शान्तिपर्व में कहा गया है—"या तो सभा में जायं ही नहीं या उसके सदस्य ही न बनें और यदि जायं तो वहां सोच-समझ-

---

32 पृष्ठ से लगातार

of important ministers was also constituted to ensure Secrecy. (Remayana, II. 100, 71). As regards Sabha, we find it to be an assembly of any sort-judicial one, a court of law, the King's court, a social gathering, or even a political one of the earlier times. The term isused in the Mahabharata as a judicial assembly as contemplated in the law books—it comprised of elders who declared Law V. 35, 58—See JAOS, **op. cit.**, p. 149. It was on assembly of nobles rather than of People in general.

1. II 5, 43. The dependence of the King on his ministers and on the accounts of his spies was one of the five sounees of strength for the ruler. The king should never part from his advisers which included the ministers and the family priest i. 60. 35. Surrounded by good ministers, the King governs with his rod (iii. 150. 37., 38 ff).

2. This officer in the list of Tirthas is designated as Mantripari-shadadhyaksha in the list of Kautilya (**op. cit.**). There does not seem to be any assembly with any Legislative or Executive function a envisaged in the Mahabharata list with reference to the President of the Assembly.

कर अपनी सम्मति प्रकट करें। जो व्यक्ति सभा में जाकर चुप रहता है या असत्य बात कहता है वह पाप का भागी बनता है।" शान्तिपर्व में सभासदों के ये गुण बताये गये हैं—वे सत्य, मृदुता तथा लज्जा-सम्पन्न और सम्यक् भाषण में समर्थ है।"[1] शान्तिपर्व में 'संसद्' नाम से भी एक सभा उल्लेख मिलता है। इसे 'जन संसद्' भी कहा जाता था। इसमें सम्भवतः साधारण जनता भी उपस्थित होती थी। वैदिक युग की सभा के समान इस काल में भी सभा का मुख्य कार्य न्याय करना ही था।

ग्राम-शासन : शासन की न्यूनतम इकाई ग्राम को माना गया था। ग्राम का प्रधान अधिकारी ग्रामणी[2] होता था। 'शान्तिपर्व' में लिखा है—प्रत्येक ग्राम का एक अधिपति नियत किया जाये। फिर क्रमशः दस, बीस, सौ और एक हजार ग्रामों के शासक नियत किये जाय। ग्राम के शासक को 'ग्रमिक' कहते थे। दस ग्रामों के शासक को 'दशिक', बीस ग्रामों के शासक को 'विंशाधिप', सौ ग्रामों के शासक को 'शतपाल' और हजार ग्रामों के शासक की 'सहस्रपति' संज्ञा थी।[3]

---

1. ह्री निषेधास्तथा दान्ता : सत्यार्जव सन्विता : ।
शक्ता कथयितुं सम्यक्ते तत्र स्युः सभासदा : ।।
महा० शान्ति० 83-2

2. The Prasna Upanisad (III. 4) refers to the adhikritas appointed for gramas or villages by the Paramount ruler (Samrat). The head mangramani-who figures in the vedic texts as rajakartri- or King-maker, along with Suta (Sat. Brah. III. 4. 1. 7; XIII. 2. 2. 18), and also in the List of ratnins (op. cit.) continued to enjoy position and states during the period of study in his chapter. He is identieel with Gramika. The total number of such gramikas is given as eighty thousand in the time of Bimbisara—quoted by Roychaudhuri—op. cit., p. 146).

3. "ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्रमपतिस्तथा ।
विंशति त्रिंशतीशं च सहस्त्रस्य च कारयेत् ।।
ग्रामेयान् ग्रामदोषांच्व ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ।
ता नाचक्षीत दशिने दशिनो विंशिने पुनः ।।
विंशाधिपस्तु तत्सर्ष वृत्तं जनपदे जने ।
ग्रामणां शतपालाय सर्वमेव विवेदयेत् ।।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भक्तिमहंति सत्कृतः ।
शाखा नगरमर्हस्तु सहस्त्रपति रुत्तमः ।।
महा० शान्ति० 87. 2. 8.

जनपद या राष्ट्र के अन्तर्गत जो नगर थे, उनके लिए एक-एक 'सर्वार्थचिन्तक' शासक की नियुक्ति की जाती थी।[1] ये सब राजपदाधिकारी राजा की सभा में सभासदों के रूप में सम्मिलित होते थे।[2] ग्रामिक का कार्य ग्राम-सम्बन्धी सभी कार्यों को सम्पन्न करना और ग्राम के दोषों का निवारण करना माना जाता था। उसका यह भी कार्य था कि वह ग्राम-विषयक सभी मामलों की सूचना दशिक के पास भेजता रहे। दशिक विंशाधिक को सूचनाएँ भेजता था, विंशाधिक शतपाल को, शतपाल सहस्रपति को और सहस्रपति सम्पूर्ण राष्ट्र के राजा को। नगर, पुर या राजधानी का राजपदाधिकारी अपने क्षेत्र के सब विषयों का शासन करता था।

गणराज्य :—महाभारत के समय में राजतन्त्रीय राज्यों के साथ-साथ कुछ गण-राज्य भी थे। गणराज्यों से अभिप्राय कुलीन क्षत्रियों द्वारा संचालित लोकतन्त्रीय प्रणाली के और गणतन्त्र तीनों प्रकार के राज्यों से है। कई राजा मिलकर संघ बना लेते थे।

महाभारत[1] में पांच गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। अन्धक, वृष्णि, यादव, कुकुट तथा भोज के गणराज्यों ने अपना एक संगठन बना लिया था। इसके संघमुख्य (नेता) कृष्ण थे। प्रत्येक गणराज्य के नेता को ईश्वर कहते थे। इससे स्पष्ट होता

---

1. नगरे नगरे वा स्यदिकः सर्वार्थचिन्तकः।
उच्चैः स्थनि धोररुपो नक्षत्राणमिव ग्रहः॥
महा० शन्ति० 87. 10.

2. भवेद्स तान्यरित्रमेत्सर्वानेव सभासदः॥
महा० शान्ति० 87. 11.

1. Mbh. XII. 81-87 : The significance of the term Sangha and Gana received the attention of scholars. According to B. R. Bhandarker, the terms Sangha and Gana in Panini (III. 3. 86) means combination of individuals formed for a definite object, or a corporate body of individuals formed for a definite purpose (**Ancient History of India**, pp. 124-126). Jayaswal suggested on the authority of Panini and the Pali Canonical texts that Sangha and Gana were originally used in the sense of republics, the religious Sanga being a later development (**Hindu Polity**, pp. 23, 28); R. C. Majumdar renders the two terms as independent political corporations or non-monarchical states, and as corporations that made use of the epithet king, respectively (**Corporate Life in Ancient India**, pp. 223-250). The difference

है कि एकतंत्र राज्यों के अतिरिक्त प्रजातंत्रात्मक सरकार भी उन दिनों विद्यमान थी, पर इसका रूप आधुनिक प्रजातंत्र से भिन्न था। इसके अधिकारी अभिजातकुलीय होते थे और अपनी शक्ति संगठित करने के अभिप्राय से ही कई गण मिलकर संघ की स्थापना करते थे। कुछ अन्य गणों का भी उल्लेख किया गया है, जिनमें परस्पर द्वेष का निर्देश मिलता है। इसी प्रकार राजनैतिक दलबन्दी का भी पता चलता है। भवू ने कृष्ण के विरुद्ध अपना पृथक् दल बना लिया था। भीष्म पितामह ने इन गणों की इस प्रकार व्याख्या की है—

"गण के लोगों को आपस में मेल रखना चाहिए, बड़े आदमियों को तुरन्त ही फूट का अन्त कर देना चाहिऐ, शासकों पर भरोसा करना चाहिए, खजाना भरा-पूरा रखना चाहिऐ और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि एकता रखनी चाहिए।[1]" (डा० बेनी प्रसाद 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' पृ० 176, 177)

राज्य पदाधिकारी :—शासन-प्रबन्ध को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अनेक प्रकार के पदाधिकारी होते थे। 'सभापर्व' में 18 अधिकारियों का निर्देश है। युवराज का शासन-प्रबन्ध में काफी हाथ होता था। राजमहल, कारागार, अरण्य सीमावर्ती प्रदेश आदि के विभिन्न अधिकारियों का विवरण प्राप्त होता है।[2] "शन्तिपर्व' में अनेक प्रकार के अफसरों का उल्लेख किया गया है। इनमें खान, नमक, नदी, सेना, शुल्क आदि के अधिकारी प्रमुख हैं।[3] सेना में अनेक प्रकार के

पृष्ठ 33 से लगातार

between the Gana and Sangha is explained as the former signifying the form of government (Parliament or Senate) and the later, the state. Gana has been used in a wider sense with reference to organized units—Political and economic. Sangha might imply the union of independent states for a set purpose for an indefinite period. According to the aphonism of Panini (III. 3. 86), the word Sangha is synonymous with Gana. (See also Ghoshal : **Studies in Indian History and Culture**, pp. 369- for a critical study of the Ancient Indian republican and mixed constitutions from the 6th century B. C. to the 3rd century A. D). In Pali literature Sangha and Gana are distingushed in the phrase—Sanghi Cha Cani Cha (**Poli Dictionary**, p. 70).

1. सभापर्व 5.
2. शान्तिपर्व 107. 10-32.
3. सभापर्व 5.

अधिकारी थे ।[1] छोटे कर्मचारियों में जासूसों तथा कारीगरों का भी उल्लेख मिलता हैं। अधिकारियों के उल्लेखनीय नाम मांत्रिन्, अमात्य, सचिव, परिषद्, सहाय अर्थकारिन् धार्मिक आदि हैं ।

सेना :—युद्ध के लिए सेना रखना आवश्यक था और साम्राज्य, निर्माण के लिए युद्ध करना । सेना चार प्रकार की थी—गजदल, रथदल, हथदल और पदावि । इन चार अंगों से युक्त होने के कारण वह 'चतुरंगिणी' कहलाती थी । सेना के अधिकारी अभिजातकुलीय व्यक्ति होते थे । युद्ध में धनुष-बाण, भाले-बर्छे, तलवार-परशु आदि अस्त्र-शस्त्र प्रयोग किये जाते थे । रक्षा के लिए कवच और शिरस्त्राणादि का उपयोग किया जाता था । युद्ध में मरना गौरव की बात समझी जाती थी । मरे हुए व्यक्तियों की विधवाओं को जीविकार्थ एक प्रकार की पेंशन दी जाती थी ।

तत्कालीन रणनीति के सम्बन्ध में अनेक सामग्रियां प्राप्त होती हैं । महाभारत में एक ओर तो निश्चल युद्ध का प्रमाण मिलता है पर दूसरी ओर छल-कपटों का भी उदाहरण बहुतायत से प्राप्त होता है । शत्रु की सेना तथा शत्रु की प्रजा में पारस्परिक फूट डालकर या शत्रु को लोभ दिलाकर उसके नाश करने तक की बातें कही गई हैं ।[2] क्षत्रियों का सेना में बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था । कोई भी क्षत्रिय घायल, भागते हुए या आत्म-समर्पण करनेवाले शत्रु पर हथियार नहीं उठा सकता था । राजपूतों पर किसी प्रकार का अघात नहीं होता था ।

राज्य की आय :—राजकीय करों के सम्बन्ध में भी महाभारत में अनेक निर्देश मिलते हैं । राजा प्रजा से जो कर ग्रहण करता था, उसे 'बलि' कहा जाता था । यह बलि खेती आदि की पैदावार का छठा भाग (षट् भाग) होती थी । इस बलि का प्रयोजन प्रजाजन की रक्षा करना ही माना जाता था ।[3] साथ ही ध्यान रखा जाता था कि कर ग्रहण करते हुए प्रजा दोहन मृदु रीति से किया जाय, जैसे भ्रमर फूलों का करता है, और जैसे बछड़ा गाय का करता है, जो दूध पीता है पर स्तनों

---

1. शान्तिपर्व 69.

2. शान्तिपर्व 5 17, 21. 65. 2. सभापर्व 5. 12 आदि

3. आददीत बलिन्त्वापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
षट्भागमयि प्राज्ञः तासमिवामिगुप्तये ।।
महा० शान्ति० 69. 25.

को नहीं काटता ।[1] व्यापार एवं वाणिज्य से भी राज्य को अच्छी आमदनी होती थी । व्यापारियों पर कर लगाते समय उनके खर्च एवं योग-क्षेम की दशा का ध्यान रखा जाता था । शिल्पियों पर कर लगाते समय माल के उत्पादन-व्यय, मजदूरी खर्च एवं शिल्प की दशा का ध्यान रखा जाता था ।[2] कर निर्धारित करते समय सदैव इस बात पर ध्यान दिया जाता था कि उत्पादकों पर इसका अनुचित बोझ न पड़े । 'शान्तिपर्व' में कहा गया है कि जनता पर कर का बोझ बढ़ जाने से कर्म करने की प्रेरणा नष्ट हो जाती है ।[3] जुर्माना से भी अच्छी आय हो जाती थी । 'शान्तिपर्व' में ब्रह्मणों से कर न लेने की बात भी कही गयी है ।[4]

बौद्धकालीन शासन-व्यवस्था :—

ई० पू० छठी शताब्दी में सोलह महाजन पदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय एक ही प्रकार की शासन-पद्धति का अभाव था, क्योंकि कहीं राजतन्त्र था तो कहीं गणतन्त्र और यदा-कदा कुछ अंशों में दोनों का समन्वय भी था । उस समय मूल रूप से राजतन्त्र और राजतन्त्रेतर शासन-पद्धतियां विद्यमान थीं । गण-राज्यों में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था । जनता स्वयं ही अपना शासन करती थी । वज्जि, मल्ल शूरसेन आदि गणराज्य थे । इनके अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में स्पष्ट रूप से दस गणराज्यों का उल्लेख हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) कपिलवस्तु के शाक्य (2) रामग्राम के कोलिय (3) मिथिला के विदेह, (4) कुशीनारा के मल्ल (5) पावा के मल्ल (6) पिप्पलिवन के मोरिय (7) अल्लकप्प के बुलि (8) सुंसुमार पर्वत के भग्ग (9) केसपुत्त के कालाम, और (10) वैशाली के लिच्छवि ।

---

1. "मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न प्रपातयेत् ।
वात्सापिक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत ।।
महा० शान्ति 88. 3.

2. "विक्रयं क्रयमहर्ध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत्करान् ।।
उत्पत्तिं च दानवृतिं च शिल्पसंप्रेक्ष्य चासकृत ।
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत् ।।
महा० शान्ति० 87. 13-14.

3. "राष्ट्रमप्यति दुग्धं हि न कर्म कुरुते मृशम् ।।"
महा० शान्ति 87. 21.

4. शान्तिपर्व 69. 10-11, 13-16, 20-23. सभापर्व 46.
अश्वमेधपर्व 3. 17. आदि

गणतन्त्रः शाक्य :—शाक्यों का राज्य बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था क्योंकि वहाँ गौतम बुद्ध का जन्म हुआ था। ये लोग जाति से क्षत्रिय थे। बौद्ध ग्रंथों में शाक्यों का सम्बन्ध इक्ष्वाकुवंश से जोड़ा गया है। सुमंगलविलासिनी[1] और महावंश[2] की कथाओं में शाक्यों को राजा ओवकाक या इक्ष्वाकु का वंशज बताया गया है। 'महावस्तु' में शाक्यों को आदित्य बन्धु कहा गया हैं।[3] विभिन्न साधनों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ये लोग प्राचीन सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। शाक्यगण की राजधानी कपिलवस्तु थी। इसके अन्तर्गत सामगाभ, उलुम्पा, देवदह, चानुमा, सववर, सीलावती और खोमदुस्स आदि प्रसिद्ध नगर थे।[4]

शाक्य गणराज्य में गणतांत्रिक शासन प्रणाली प्रचलित थी। उसका कोई वंश-क्रमानुगत राजा नहीं होता था। राज्य के प्रधान अथवा मुखिया को राजा कहा जाता था। बौद्ध-काल के अन्य अनेक राज्यों में प्रत्येक कुल के मुखिया को 'राजा' कहते थे लिच्छवियों में यही व्यवस्था थी। पर शाक्यों में राजा केवल एक ही होता था, हर मुखिया एवं सरदार को राजा नहीं कहा जाता था। यही कारण है कि जहाँ बौद्ध-साहित्य में अनेक स्थलों पर उनके नाम के साथ 'राजा' का विशेषण आता है, वहाँ अन्यत्र उनके जीवन-काल में ही उनके छोटे भतीजे-भद्दिय को 'राजा' कहा गया है और उन्हें केवल 'शाक्य शुद्धोदन' लिखा गया है।[5]

शाक्य-राज्य में एक परिषद् थी जिसका अधिवेशन कपिलवस्तु के संथागार में हुआ करता था। 'महावस्तु' में शाक्यपरिषद् के सदस्यों की संख्या 500 लिखी गयी है। 'ललितविस्तर' के अनुसार भी शाक्यों की परिषद् के सदस्यों की संख्या पांच सौ थी।[6] सभी प्रकार के प्रस्ताव—राजनीतिक, सामाजिक आदि—परिषद् में उपस्थित किये जाते थे। शाक्य राज्य एक प्रकार का श्रेणीतन्त्र (एरिस्टोक्रेसी) था, जिसमें कुलीन घराने के मुखिया सब काम करते थे। इन पांच सौ सदस्यों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इसके सम्बन्ध में कोई निर्देश बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

लिच्छिवियों की शासन-पद्धति :—लिच्छवी गणराज्य की राजधानी वैशाली थी। प्राचीन भारतीय नगरों में वैशाली का बहुत महत्व था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार इसका संस्थापक राजा इक्ष्वाकु का पुत्र विशाल था, जिसके कारण इसका

1. **Sumangala Vilasini**, pt. I, pp. 258-260.
2. **Mahavanso**, edited by Geiger, pp. 12. 14.
3. **Maha Vastu**, ii, p. 303.
4. Cambridge History of India, Vol, p. 175.
5. Rhys Davids : **Buddhist India**. p. 19.
6. **Lalitavis:ara** pp. 135-137.

नाम वैशाली पड़ा था।[1] शाक्यों की तरह लिच्छवी लोग भी क्षत्रिय थे। जैन साहित्य के अनुसार भी लिच्छवी लोग क्षत्रिय वर्ग के थे।[2]

लिच्छवी राज्य की शासन प्रणाली गणतांत्रिक पद्धति पर आधारित थी। वहाँ कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था और राज्य की सारी शक्ति जनता में निहित थी। कौटिल्य ने लिच्छवियों को राजशब्दोपजीवी संघ कहा है।[3] लिच्छवियों में प्रत्येक अपने को राजा समझता था। 'ललितविस्तर' के अनुसार वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अपने को राज्य का राजा समझता था और सब समान थे।[4] लिच्छवी राज्य की राजसभा के अधिवेशन संस्थागार में होते थे। इस सभा में कितने लिच्छवी 'राजा' सम्मिलित होते थे, इसका निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलता है। 'एकपण्ण' जातक के अनुसार वैशाली के राजाओं की संख्या 7707 थी। साथ ही, राजाओं के साथ शासन करनेवाले उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिकों की भी संख्या इतनी ही है।[5]

कुछ विद्वानों के अनुसार, ये 7707 शासक परिवार थे और कुछ इन्हें लिच्छवी राज्य में शासन करनेवाली अलग श्रेणी के रूप में मानते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ये लोग कुलीन परिवार के थे और इन्हीं लोगों में शासन सत्ता निहित थी। ये लोग वैशाली के संस्थागार में एकत्र होकर राज्य का सब काम करते थे।[6] इसे

---

1. "इक्ष्वाकोस्तु नटव्याघ्र पुनः परमधार्मिकः।
   अलम्बुषायामुत्पन्नः विशाल इति विश्रुतः॥
   तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी वृता॥
   (रामायण 47. 11-12)
2. Jacobi : **Kalpa Suttra**, p. 266
3. "लिच्छविक वृज्जिक कुकुर कुरु पान्चालादयो राजशब्दोपजीविनः संघा।"
   को० अर्थशास्त्र 11. 1.
4. "नोच्च मध्य बृद्ध ज्येष्ठानुपालिता एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति। न च कस्यचित् शिष्यत्वमुपगच्छति।"
5. "तत्थ निच्चकालं रज्जं करित्वा वसंतानं येव राजूनं सत्तसहस्सानि सत्तसत्तानि सत्त च। राजानां होति तत्तका, येव उपराजानोतत्तका सेनापतितो तत्तका तत्तका भण्डागारिका।"
6. महावस्तु से ज्ञात होता है कि बुद्ध के दर्शन के लिए 168000 वैशाली निवासी गये थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वहाँ की जन सख्या लाखों में थी।

कुलीनतंत्र भी कहा जा सकता है। इन राजाओं का राज्याभिषेक भी होता था।[1] राज्य में एक पदनायक होता था, जिसकी नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती थी।[2] सम्भवतः यह नायक ही लिच्छवी राजाओं में प्रधान एवं राष्ट्रपति का कार्य करता था।

प्रतिनिधि सभा को संस्थागार कहा जाता था। यह राज्य की व्यवस्थापिका सभा होती थी। परिषद् की कार्यवाही प्रारम्भ होने के लिए सदस्यों की कम-से-कम संख्या निश्चित थी, जिसे गणपूर्ति कहते थे। सभा-भवन में सदस्यों के बैठने के लिए आसनों का प्रबन्ध आसनपन्नायक नामक एक पदाधिकारी करता था। परिषद् में प्रस्ताव को प्रतिज्ञा कहा जाता था, इसे नियमपूर्वक रखने को स्थापन और इसे पढ़ने को ज्ञप्ति कहा जाता था। प्रतिज्ञा की ऊँचे स्वर में घोषणा को अनुश्रावण और उसके कई बार पढ़ने को ज्ञप्तिद्वितीय, ज्ञप्तितृतीय आदि कहते थे। प्रस्ताव के ऊपर वाद-विवाद होता था और तब फिर उस पर मत लिया जाता था, जिसे छन्द (स्वतंत्र विचार) कहा जाता था। अनुपस्थित सदस्य लिखकर अपना मत दे सकते थे। मत प्रदर्शित करने के लिए सदस्यों को शलाका दी जाती थी और इन्हें एकत्र करनेवाले को शलाकाग्राहक कहते थे। मत गुप्त रखे जाते थे।

परिषद् में निर्णय संभवतः सर्व सम्मति से लिया जाता था, यदि ऐसा सम्भव नहीं हुआ तो बहुमत के आधार पर निर्णय हो जाता था। बहुमत से लिए गये निर्णय को भूयिष्ठ कहा जाता था। प्रतिज्ञा परिषद् में स्वीकृत हो जाने पर संघकर्म कहलाती थी। कार्यवाही की वैधानिकता निम्नांकित बातों पर आधारित थी—गण-पूर्ति, आधिकारिक सदस्यों की उपस्थिति, प्रतिज्ञा की नियमित ज्ञप्ति, शलाकाओं का संग्रह, परिषद् द्वारा कार्यवाही की सम्पुष्टि। संस्थागार में नियम-अनुशासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। एकबार नियमित रूप से प्रस्ताव पारित हो जाने पर पुनः उसपर विचार नहीं किया जाता था। परिषद् का भी कार्यालय होता था और इसमें विश्वासपात्र लिपिक परिषद् की कार्यवाही लिखते थे एवं उसे सुरक्षित रखते थे।

गण के मुख्य अधिकारी राजा, उपराजा, सेनापति और भाण्डागारिक होते थे।[3] इसका शासन गणमुख्य परिषद् के निश्चय के अनुसार अधिकारियों की सहायता से होता था। प्रत्येक युवक सैनिक का काम जानता था और सेना का प्रमुख अधिकारी

1. Fausbell : **The Jataka**, Vol. iv, p. 148.
2. Rockhill : **Life of the Buddha**, p. 62.
3. J. P. Sharma—**Republics in Ancient India.**

सेनापति होता था। अर्थ विभाग का मुख्य अधिकारी भाण्डागारिक होता था। सेनापति सैन्य संचालन के साथ ही साथ एक मंत्री के रूप में भी कार्य करता था। वह समस्त अमात्यों में प्रमुख समझा जाता था इनके अतिरिक्त हिरण्यक, सारथी आदि कर्मचारियों का निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलता है।

लिच्छवी राज्य की न्याय-व्यवस्था बड़ी अच्छी थी। अभियुक्त को पहले 'विनिश्चयामात्य' के सम्मुख उपस्थित किया जाता था और वह अभियुक्त पर लगाये गये आरोप की जांच करता था। निरपराध होने पर वह उसे छोड़ भी सकता था, अन्यथा वह उसे 'वोहारिक' अथवा व्यवहारिक के सम्मुख उपस्थित करता था। निरपराध होने पर वह भी उसे छोड़ सकता था। परन्तु दण्ड देने का उसे अधिकार नहीं था। पुनः व्यवहारिक उसे सुतधर या सूत्रधर नामक के कर्मचारी के सम्मुख उपस्थित करता था। सूत्रधर अभियुक्त को छोड़ सकता था। किन्तु अभियुक्त को अपराधी पाने पर वह उसे अट्ठकुलक नामक कर्मचारी के सम्मुख पेश करता था। उसके बाद अभियुक्त को क्रमशः सेनापति, उपराजा और राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। अभियुक्त को दण्ड तभी मिल सकता था जब उसका अपराध पूर्णतया सिद्ध हो जाय। मुकदमों का 'रेकार्ड' रखा जाता था और इस तरह के 'रेकार्ड' को 'पवेणीपुस्तक' कहते थे। इस कार्य के लिए 'पवेणीपोत्थक' नामक अधिकारी होता था। यहां की शासन-प्रणाली की प्रसंशा भगवान बुद्ध ने भी की थी और कहा जाता है कि ऐसी व्यवस्था प्राचीन यूनान तक में नहीं थी।

वृज्जिसंघ :—विदेह और लिच्छवी संयुक्त रूप से संवज्जि कहलाते थे और इनके अन्तर्गत आठ गणराज्य थे। इन्होंने आपस में मिलकर एक संयुक्त संगठन कायम किया था और वही वृज्जि संघ कहलाता था। वृज्जियों ने एक संयुक्त काउन्सिल का निर्माण किया था जिसमें 18 सदस्य थे, जिनमें 9 लिच्छवी और 9 मल्ल थे। इन सदस्यों को 'राजा' कहा गया है। संघ-शासन में परामर्श देने के लिए अष्टकुलक नामक एक संस्था थी, जिसमें गण के प्रमुख आठ कुलों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। कई गणों के मिलने से संघ बनता था। संघ के सभी सदस्यों के स्थान और अधिकार बराबर होते थे। वृज्जि और मल्ल बड़े ही प्रभावशाली संघ थे। सबसे ऊपर जो न्यायालय होता था उसे भी अष्टकुलक कहते थे। के० पी० जायसवाल के अनुसार यह आठ सदस्यों की न्यायकारी काउन्सिल थी; परन्तु रीज डेविड्स ने इसे आठ वर्गों या उपजातियों के प्रतिनिधि के रूप में माना है। संघ-शासन-प्रणाली का अपना नियम था और उससे ही संघ-शासन-संचालित होता था। संघ के अन्तर्गत गणराज्य के सदस्य प्रशासन मण्डल का चुनाव करते थे। गणराज्यों का शासन संघ की सभा

द्वारा होता था। सभा में सदस्यों की संख्या गणराज्य की जनसंख्या के अनुसार होती थी।[1]

राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था :—

राजतंत्र प्रायः वंशानुगत होता था, यद्यपि चुनाव का भी निर्देश यत्र-तत्र मिलता है। सम्भव है कि यह औपचारिकता-मात्र के रूप में रह गया हो। एक यूनानी लेखक का कहना है कि पंजाब के किसी भाग में सबसे सुन्दर व्यक्ति ही राजपद के लिए चुना जाता था। जहां-कहीं चुनाव था भी वहां अब यह राज परिवार तक ही सीमित रह गया था। किन्तु कुछ अवसरों पर चुनाव राज परिवार से बाहर भी होता था। राजपद केवल क्षत्रियों का एकाधिकार नहीं था क्योंकि हम देखते हैं कि इस युग में एक प्रमुख एवं शक्तिशाली राजवंश शुद्धों का भी था। इस युग में छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े-बड़े राज्यों का निर्माण हुआ और परिणामस्वरूप प्रादेशिक शासकों के पद अधिक प्रधान हो गये। प्रादेशिक शासक बहुधा राजवंश के राजकुमार ही होते थे। ज्यों-ज्यों केन्द्रीकरण बढ़ता गया त्यों-त्यों प्रान्तों पर केन्द्र का प्रभाव भी बढ़ा। प्रान्तीय शासनों में जो नियुक्तियां होती थीं, वे अब क्षत्रियों तक ही सीमित नहीं थीं। केन्द्रीकरण के फलस्वरूप शासन का उत्तरदायित्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया और अब अकेले शासन करना राजा के लिए असम्भव हो गया। यही कारण है कि इस युग में बहुत-सारे नये कर्मचारियों के पदों का विकास हुआ।

'महामात्र' पद का विकास इस युग में हुआ, ऐसा माना जाता है और महामात्र का महत्व भी शासन के संदर्भ में इसी युग में बढ़ा। कुछ सामान्य सर्वधिक कार्यों की देखभाल करनेवाले (सर्वधिक) थे। दूसरे न्यायकर्ता (व्यावहारिक) थे। तीसरे सेना का निरीक्षण करनेवाले (सेना-नायक) थे। इनके अतिरिक्त कुछ एसे महामात्र थे, जो भूमि सम्बन्धी माप करनेवाले (रज्जुग्राहक) या उपज में राजा के हिस्से की माप करनेवाले (द्रोणमापक) होते थे। राजा अब भी न्याय विभाग का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था, परन्तु इस युग में इस कार्य का सम्पादन मुख्य रूप से व्यवहारिक ही करते थे। बौद्ध-साहित्य से ज्ञात होता है कि बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त न्यायालय थे। विनिश्चय महामात्र की कचहरी से राजन् की कचहरी तक एक अपर दूसरी कचहरी होती थी। प्रवेणि-पुस्तक (दण्ड विधान) के अनुसार न्याय सुनाया जाता था और दण्ड-विधि में दैवी न्याय का प्रचलन था।

बौद्ध काल के राजतन्त्रीय राज्यों में राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे। शासन करने की योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी राजा के लिए ध्यान में रखी जाती

1. Yogendra Mishra—**Early History of Vaisali.**

थीं। अन्धे और विकलांग व्यक्ति को राजा नहीं बनाया जाता था। राजतन्त्रात्मक राज्यों में राजा का बड़ा लड़का ही गद्दी पर बैठता था, इसीलिए राजा लोग संतान के लिए बहुत उत्सुक रहते। यदि राजा के कोई सन्तान न हो तो राजगद्दी राजा के भाई को प्राप्त हो सकती थी।[1] अनेक बार राजपाता को भी राजगद्दी प्राप्त हो सकती थी।[2] कुछ दशाओं में राजा की विधवा रानी अमात्य वर्ग की सहायता से राज्य का संचालन करती थी। 'उदय जातक' में कथा आती है कि राजा उदय के बाद उसकी रानी उदयमद्दा अमात्यों की सहायता से सफलतापूर्वक शासन करती रही।[3] 'घट जातक' में भी एक स्त्री के शासन का उल्लेख है।[4] यदि राजकुमार शासन चलाने के अयोग्य हो तो अमात्य लोग उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को राजगद्दी पर आसीन कर सकते थे : बौद्ध साहित्य में राजा के दस धर्मों का उल्लेख किया गया है—दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव तप, अक्रोध, अविहिंसा, शान्ति और अवरोधन।[5] राजाओं में इन गुणों की सत्ता बहुत आवश्यक और लाभकर मानी जाती थी।

शासन में राजा के अतिरिक्त अमात्यों का महत्वपूर्ण स्थान होता था। वे राजा को शासन-सम्बन्धी विषयों पर परामर्श देने का कार्य करते थे। अमात्यों के लिए सब विद्याओं एवं शिल्पों में निष्णात होना आवश्यक माना जाता था।[6] राजा की अनुपस्थिति या शासन-कार्य में असमर्थता की दशा में भी वे शासन-सूत्र को अपने हाथों में कर लेते थे।[7] मंत्रि-परिषद् का बड़ा महत्व होता था। अमात्यों में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का होता था, क्योंकि वह राजा के 'धर्म और अर्थ' दोनों का अनुशासक होता था। बौद्ध अनुभूति के अनुसार प्रथम राजा को भी, जिसे 'महासम्मत' कहा गया है, पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता हुई थी।[8] पुरोहित का पद प्रायः वंशक्रमानुगत होता था। पुरोहित के अतिरिक्त भी अन्य अनेक अमात्यों के नाम जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें सेनापति भाण्डा-

1. Cowell, **The Jataka,** vol. II, pp. 251-260.
2. **Ibid**, Vol. II, p. 224.
3. **Ibid**, Vol. IV, p. 67.
4. **Ibid,**, Vol. IV, p. 50.
5. "दानं सीलं परिच्चागं अज्जवं मद्दवं तपम्।
अवकोधं अविहिंसा च खान्ति च अविरोधनम्॥"
Fousball : **The Jataka,** Vol. III, p. 274.
6. Cowell : **The Jataka** Vol. II, p. 51.
7. **Ibid.**, Vol. IV, p. 233.
8. **Ibid.**, Vol. III, p. 233.

गारिक, विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य सैन्य संचालन था, परन्तु वह एक मंत्री के रूप में कार्य करता था। कहीं-कहीं उसे अमात्यों का प्रमुख कहा गया है।[9]

विनिश्चयामात्य कानून सम्बन्धी मामलों में राजा को परामर्श देते थे और मुकदमों का निर्णय भी करते थे।[10] विनिश्चयामात्य न्याय मंत्री को कहते थे। भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। रज्जुक भूमि की पेमाइश तथा मालगुजारी वसूल करने वाले को कहते थे। इनके अतिरिक्त द्रोणमापक, हिरण्यक, सारथी, दोवारिक आदि राजकर्मचारियों का उल्लेख भी जातक साहित्य में मिलता है। शहर के कोतवाल को 'नगरगुतिक' कहते थे।

देश की रक्षा का भार राजा पर था और राजा इस कार्य का सम्पादन अपने सेनापति की सहायता से करता था। राजा को अपने राज्य की रक्षा के लिए बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ती थी और उसके साधारणतः चार विभाग होते थे—पदाति, अश्वारोही, रथ और हाथी। बाद के महाकाव्यों ने इनमें नौसेना, मजदूरों, गुप्तचरों और स्थानीय पथ-प्रदर्शकों को सम्मिलित कर दिया है। यूनानियों द्वारा भारतीय शस्त्रास्त्र के सम्बन्ध में भी कुछ वर्णन प्राप्त होते हैं। भारत में उस समय लम्ब धनुष और बेंत से बने नोकवाले तीर का विशेष प्रयोग होता था। तलवार के साथ-साथ शतघ्नी नामक एक अस्त्र का व्यवहार भी होता था। जैन लेखकों के अनुसार अजातशत्रु ने लिच्छवियों के विरुद्ध नेरणमसल और महाशिलाकण्टक का व्यवहार किया। यूनानी लेखक इस बात के साक्षी हैं कि भारतीय युद्ध-कला में सबसे बढ़े-चढ़े थे।

राज्य की आय का प्रमुख साधन 'कर' था। अतः कर-संग्रह राज्य के लिए बड़ा महत्वपूर्ण काम था। कभी-कभी कोष भरने के विचित्र उपायों का अवलम्बन लिया जाता था। बलि और शुल्क के अतिरिक्त इस काल में हमें 'भागदुय' और 'षड्भाग' का उल्लेख भी मिलता है। कर-सम्बन्धी कर्मचारियों में प्रधान ग्राममोजक था। अन्य राजकीय करों में चुंगी, 'दुग्धधन' और बेगारी का उल्लेख तत्कालीन बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध है राजतन्त्र का अस्तित्व धीरे-धीरे मजबूत होता जा रहा था और मौर्य साम्राज्य के समय तो राजतन्त्र अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया।

हर्यकवंशकालीन शासन-व्यवस्था :—

मगध का सबसे पहला शक्तिशाली राजा बिम्बिसार था। पालि ग्रंथों के अनुसार वह हर्यक कुल का था। वह एक साधारण सामन्त भट्टिय का पुत्र था और उसका

9. **Ibid.**, Vol. V, p. 92.
10. **Ibid.**, Vol. II, p. 259.

विरूद 'श्रेणिय' अथवा 'श्रेणिक' था। महावंश के अनुसार जब वह गद्दी पर बैठा उसकी अवस्था केवल 15 वर्ष की थी। प्रारम्भ में उसकी राजधानी गिरिव्रज में थी, परन्तु बाद में उसने राजगृह को ही अपनी राजधानी बनाया। वह एक कुशल राजनीतिज्ञ था।

विम्बिसार के शासन का प्रशंसात्मक वर्णन हमें पाली साहित्य में उपलब्ध होता है। विम्बिसार ने साम्राज्य की स्थापना के साथ ही मगध में संगठित एवं सुदृढ़ शासन की भी नींव डाली। तत्कालीन राज्य की स्थितियों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि विम्बिसार का राज्य-प्रबन्ध सुसंगठित एवं सुसंचालित था। राजा ही शासन का प्रधान होता था और उसकी सहायता के लिए उपराजा, माण्डलिक राजा, सेनापति, सेनानायक महामात्र, ग्रामभोजक आदि प्रमुख पदाधिकारी होते थे। सम्भवत. विम्बिसार अपने बड़े पुत्र दर्शक की सहायता से शासन करता था और इसलिये उसे उपराजा कहा गया है। माण्डलिक राजाज्ञा से शासन करते थे। सेनापति का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था।

उससे नीचे के पदाधिकारी को 'सेनापति महामात्र' कहा जाता था। न्यायाधीश को 'व्यवहारिक महामात्र' कहते थे। राजा स्वयं सर्वोच्च शासक था। 'महावग्ग' के अनुसार उसकी राजसभा में समस्त ग्राम के प्रतिनिधियों को स्थान प्राप्त था। मगध का शासन-प्रबन्ध महामात्रों के हाथ में था और उनके ऊपर कड़ी दृष्टि रखी जाती थी। कुणिक चंपा में रहकर अंग का शासन करता था।[1]

विम्बिसार के राज्य में कुछ गणराज्य भी थे, जिनका शासन 'राजकुमारों के हाथ में था। विम्बिसार का शासन बहुत कठिन था। दण्ड-विधान में किसी प्रकार की दया का स्थान न था। कारावास के अतिरिक्त मृत्युदण्ड देने की भी व्यवस्था थी। जो अधिकारी उसे अच्छा परामर्श देते, उन्हें वह पुरस्कार देता था और जो ठीक परामर्श न देते उन्हें पदच्युत कर देता था। उसके समय में चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध था। जीवक विम्बिसार का राजवैद्य था। महागोविन्द नामक (राजगृह का निर्माणकर्ता) प्रसिद्ध वास्तुकार उसी के समय में हुआ था।

---

1. भगवती सूत्र 300 –चम्पायां कुणिको राजा बभूव

तीसरा अध्याय

मौर्यकाल में जिला-शासन

1. मौर्यकालीन केन्द्रीय शासन की भूमिका :—

केन्द्रीय शासन के वास्तविक स्वरूप का पता हमें मगध साम्राज्य के उत्कर्ष के बाद अच्छी तरह लगता है। मगध साम्राज्य का उत्कर्ष ई० पू० 600 में प्रारम्भ हुआ और उसकी परिणति मौर्य-साम्राज्य में जाकर हुई। बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय केन्द्रीय सरकार गांवों पर काफी नियंत्रण रखती थी। उनके समय राज्य में सत्ता का केन्द्रीकरण था। प्रान्तों के अधिकारी प्रायः राजपुत्र ही हुआ करते थे। नन्दवंश के समय न्यायाधिकारी को वोहारिक महामात्र, सेनाधिकारियों को सेनानायक महामात्र और शासन-व्यवस्था रखनेवाले अधिकारियों को सब्बधक महामात्र कहते थे। पुराणों में नन्दवंश के शासकों को सर्वक्षत्रान्तक कहा गया है। मगध में साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् एक ऐसी शासन-पद्धति का विकास हुआ जो एक विशाल साम्राज्य के लिए उपयुक्त थी। मगध साम्राज्य के शासन में राजा ही 'कूटस्थानीय' होता था।[1] राजा की रक्षा करने के उपायों को कौटिल्य ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है।

मौर्यकाल में केन्द्रीय शासन पूर्णरूपेण विकसित और संघटित हो चुका था। मौर्यों का केन्द्रीय शासन कई विभागों में बंटा हुआ था। विविध विभागों के बड़े अधिकारी लेखक कहे जाते थे। ये 'लेखक' साधारण 'क्लर्क' न थे। कौटिल्य का कथन है कि 'लेखक' का पद 'अमात्य' के समकक्ष होता था। उसका पद और वेतन केवल मंत्रियों से ही नीचा होता था। केन्द्रीय सरकार का प्रमुख राजा होता था। राजा के लिए वार्ताशास्त्र और दण्डनीति में पारंगत होना अनिवार्य था। वह मंत्रियों की राय से शासन करता था। मंत्रिमण्डल की बैठक में भाग लेना, अधिकारियों से मुलाकात करना, गुप्तचरों के प्रतिवेदन पर विचार करना, सैनिक परेड का निरीक्षण करना, मुख्य-न्यायाधीश की हैसियत से अपील सुनना इत्यादि उसके प्रमुख काम थे। राजा के लिए उत्साह-शक्ति आवश्यक मानी जाती थी। अशोक ने अपने छठे शिला-लेख में कहा है—"मुझे शायद ही पूर्ण सन्तोष होता कि मैंने जितना आवश्यक था उतना राज्य-कार्य किया।" राजा ही सत्ता का प्रधान केन्द्र था। वह मंत्रियों से सलाह लेता था किन्तु मंत्रिपरिषद् का निर्णय उसके लिए मान्य नहीं था। वह प्राण-

1. 'तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति'—कौ० अर्थ० 8-1

दण्ड की सजा रोक सकता था, और नया आदेश निकाल सकता था। उसका शासन उदार एवं निरंकुश था प्रजा के कल्याणार्थ वह सतत प्रयत्नशील रहता था।

अर्थशास्त्र में कहा गया है कि वह (राजा) अपना सुख प्रजा के सुख में और अपना हित प्रजा के हित में समझता था।[2] अशोक प्रजा को अपनी सन्तान मानता था तथा उसके कल्याण के लिए प्रयत्न करता था। मौर्य साम्राज्य का राज-दरबार भव्य था।

केन्द्रिय शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए विभिन्न विभागों को विभिन्न अध्यक्षों के अधिन रखा जाता था। मंत्रिमण्डल केन्द्रीय शासन का प्रमुख अंग था और इसके अतिरिक्त राजा को सलाह देने के लिए एक छोटी समिति थी, जिसमें युवराज, मुख्य मंत्री, सेनापति, वित्त मंत्री और पुरोहित रहते थे। विविध मंत्रियों का कार्य-क्षेत्र भी अलग-अलग था। कौटिल्य ने लिखा है कि जैसे एक पहिये से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार बिना मंत्रियों के परामर्श के शासन ठीक प्रकार नहीं चल सकता।[3] मंत्रि-मण्डल राज्य के लिए नीति निर्धारित करता था और जब विदेशी राजदूत दरबार में आते थे तब मंत्रि-मण्डल के सदस्य वहाँ उपस्थित रहते थे। साधारणतया निर्णय भी बहुमत से होते थे। परन्तु विशेष परिस्थितियों में राजा बहुमत के विरुद्ध भी कार्य कर सकता था।[4] मंत्रि-परिषद् की बैठक में यदि कोई मंत्रि उपस्थित नहीं हुआ तो वह लिखकर ही अपनी राय भेजता था। राजा मौखिक आदेश भी देता था। केन्द्रीय-शासन के आदेशों को ठीक-ठीक लेखबद्ध करने की योग्यता पर शासन की उत्तमता निर्भर करती थी।

कौटिल्य के अनुसार, शासन (सरकारी आदेश) ही सरकार है।[5] शुक्र का कथन है कि "राजसत्ता राजा के शरीर में नहीं, उसके हस्ताक्षरित और मुद्रांकित शासन में रहती है।" लेखक राजा और मत्रियों के मौखिक आदेशों को ठीक-ठीक लेखबद्ध करते थे। वे पहले के लेखों को भी देख लेते थे ताकि पहले के आदेशों या सिद्धांतों का नये आदेश से विरोध न हो। सरकारी आदेश की आवश्यकता समझाते

2 प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रिय हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं प्रियम्॥
कौ० अर्थ० 1. 19

3. कौ० अर्थ० 1. 3.

4. कौ० अर्थ० 1. 15.

5. शासने शासनित्याचक्षते।

हुए, समयक्रम से या महत्त्व के क्रम से तथ्य रखते हुए लेख लिखा जाता था।[6] लेख तैयार होनेपर विभागाध्यक्ष या मंत्री को दिखाया जाता था और तत्पश्चात् राजा की स्वीकृति और हस्ताक्षर के लिए पेश किया जाता था। हस्ताक्षर के बाद, मुहर लगाकर आदेश संबंधित कर्मचारियों के पास उपयुक्त कार्रवाई के लिए भेज दिया जाता था। सभवतः कौंसिलर्स यही काम करते थे। केन्द्रीय शासन में लेख सुरक्षित भी रखे जाते थे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से मौर्य साम्राज्य के केन्द्रीय संगठन के संबंध में अच्छी तरह परिचय मिलता है। केन्द्र के शासन-संचालन-हेतु अनेक विभाग थे, जिनको कौटिल्य ने 'तीर्थ' के नाम से संबोधित किया है। इनकी संख्या अठारह होती थी[7] और प्रत्येक 'तीर्थ' महामात्य (महामात्र) के अधीन था। इन अठारह तीर्थों का विवरण इस प्रकार है :—

1. **मंत्री तथा पुरोहित**—ये दो अलग-अलग पद थे, पर संभवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में आचार्य चाणक्य मत्री और पुरोहित दोनों पदों पर विद्यमान थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन दोनों पदों का उल्लेख साथ-साथ आया है। राजा इन्हीं के साथ मिलकर अन्य कर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा लेता था,[8] प्रजा की सम्मति जानने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त करता था,[9] विदेशों में राजदूत की नियुक्ति और परराष्ट्र—नीति का संचालन करता था।[10]
2. **समाहर्त्ता**—यह राजकीय करों को एकत्र करता था। इसके अधिन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्र करते थे और व्यापार-व्यवसाय आदि का संचालन करते थे। ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित थे :—

(क) **शुल्काध्यक्ष**[11]—विवध प्रकार के व्यवसाय एवं व्यापार से संबंध रखनेवाले शुल्कों (करों) को एकत्र करना इसका मुख्य कार्य था।

(ख) **पौतवाध्यक्ष**[12]—तौल-माप के परिमाणों पर नियंत्रण रखनेवाला पौतवाध्यक्ष कहलाता था।

---

6. अर्थशास्त्र, भाग 2, अध्याय 10.
7. कौ० अर्थ० 1. 8
8. कौ० अर्थ० 1. 10
9. कौ० अर्थ० 1. 11
10. कौ० अर्थ० 1. 14
11. कौ० अर्थ० 2. 21
12. कौ० अर्थ० 2. 19

(ग) **मानाध्यक्ष**[13]—देश और काल को मापने के विवध साधनों का नियंत्रण इसके अधीन था।

(घ) **सूत्राध्यक्ष**[14]—राज्य की ओर से चलाये जानेवाले व्यवसाय का नियंत्रण इसके अधिन था।

(च) **सीताध्यक्ष**[15]—ये राज्य के कृषि-विभाग के अध्यक्ष थे।

(छ) **सुराध्यक्ष**[16]—शराब के उत्पादन, वितरण और प्रयोग पर नियंत्रण रखना इसका प्रमुख कार्य था।

(ज) **सूनाध्यक्ष**[17]—बूचड़खाने का नियंत्रण इसके हाथ में था।

(झ) **गणिकाध्यक्ष**[18]—देश्याओं का नियंत्रण जिस विभाग के अधीन था, उसका अधिकारी गणिकाध्यक्ष कहलाता था।

(ट) **मुद्राध्यक्ष**[19]—देश से बाहर आने-जाने के लिए राजकीय मुद्रा प्राप्त करना आवश्यक था और यह कार्य मुद्राध्यक्ष के अधीन था।

(ठ) **विविताध्यक्ष**[20]—चारागाहों का नियंत्रण इसके अधीन था।

(ड) **नौ-अध्यक्ष**[21]—जलमार्गों का प्रबन्ध नौ-अध्यक्ष के अधिन था।

(ढ) **गो अध्यक्ष**[22]—राजकीय मवेशियों का प्रबन्ध एवं नियंत्रण गो-अध्यक्ष के अन्तर्गत था।

(त) **अश्वाध्यक्ष**[23]—घोड़ों से संबद्ध सभी कार्य अश्वाध्यक्ष के अधीन था।

(थ) **हस्त्यध्यक्ष**[24]—हाथियों से संबद्ध सभी व्यवस्था हस्त्यध्यक्ष के अधीन थी।

---

13. कौ० अर्थ० 2. 20
14. कौ० अर्थ० 2. 23
15. कौ० अर्थ० 2. 24
16. कौ० अर्थ 2-25
17. कौ० अर्थ 2-26
18. कौ० अर्थ 2-27
19. कौ० अर्थ 2-34
20. कौ० अर्थ० 2-33
21. कौ० अर्थ० 2-28
22. कौ० अर्थ० 2-29
23. कौ० अर्थ० 2-30
24. कौ० अर्थ० 2-31

(भ) **सौवर्णिक**[1]—टकसाल के अध्यक्ष को सौवर्णिक कहते हैं।

ये बीस अध्यक्ष समाहर्त्ता के अधीन थे।

3. **सन्निधाता**—सन्निधाता कोष विभाग का अधिकारी होता था। इसका कार्य कर के रूप में प्राप्त राजकीय सोने-चांदी को सुरक्षित रखना तथा पुरानी धान्य आदि सामग्री की बिक्री कर उसके स्थान पर नवीन सामग्री एकत्र कर कोष में रखना था। गोप नामक अधिकारी इसी विभाग से संबंधित था। इसके निम्न-लिखित उप-विभाग भी थे—कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार तथा बंधनागार।[2]

4. **सेनापति**—यह युद्ध-विभाग का महामात्य होता था। कौटिल्य की कार्य प्रणाली के अंतर्गत पूरा युद्ध-विभाग सेनापति के नियंत्रण में रखा गया था।

5. **युवराज**—युवराज भी प्रथम श्रेणी का अधिकारी था, जो कि राजा का उत्तराधिकारी होता था। वह शासन-संचालन में राजा की सहायता करता था। राजा की अनुपस्थिति में वह शून्यपाल (रीजेन्ट) का भी कार्य करता था।

6. **प्रवेष्टा**[3]—कंटकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश को कौटिल्य ने प्रवेष्टा के नाम से संबोधित किया है। इसका कार्य विविध अध्यक्षों तथा राजपुरुषों पर नियंत्रण रखना था।

7. **नायक**[4]—सेना के मुख्य संचालक को नायक कहते थे। नायक का कार्य सेना का युद्ध-क्षेत्र में संचालन करना था। युद्ध के समय यह सेना के आगे-आगे रहता था।

8. **व्यावहारिक**[5]—यह धर्मस्थीय न्यायालय का प्रधान होता था। इसे धर्मस्थ भी कहा गया है।

9. **कर्मान्तिक**[6]—राज्य के कारखानों का संचालक कर्मान्तिक कहलाता था।

---

1. कौ० अर्थ० 2-14
2. 'सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं कोष्ठागारं कुप्यगृहमायुधागारं बन्धनागारं च कारयेत्।'

   कौ० अर्थ० 2-5
3. कौ० अर्थ० 4-1
4. कौ० अर्थ० 10-1
5. 'पुरस्तान्नायकः।' कौ० अर्थ० 10-2
6. कौ अर्थ० 3-1

10. **मन्त्रिपरिषद्-अध्यक्ष**—इसका पद अत्यन्त उच्च होता था। राज्य के अठारह तीर्थों में से मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष भी एक तीर्थ माना गया है। मंत्रि-परिषद् की बैठकें इसी की अध्यक्षता में होती थीं।

11. **दण्डपाल**—सेना का प्रबन्ध करना तथा उसकी प्रत्येक आवश्यकता पूरी करना दण्डपाल का कर्त्तव्य था।

12. **अंतपाल**—सीमान्त प्रदेशों की रक्षा का कार्य अंतपाल करता था।

13. **दुर्गपाल**—दुर्गों की व्यवस्था करना दुर्गपाल का कर्त्तव्य था।

14. **नागरक**—पुरों या नगरों के शासन का सर्वोच्च अधिकारी नागरक होता था।[1] नगरशासन-व्यवस्था के संचालन में इसका वही महत्व था, जो कि जनपद की शासन-व्यवस्था के संचालन में समाहर्त्ता का होता था।

15. **प्रशास्ता**—राजकीय आज्ञाओं को लिपिबद्ध करने के लिए एक विभाग होता था, जिसके मुख्य अधिकारी को प्रशास्ता कहते थे। इसके अधीनस्थ कार्यालय को 'अक्षपटल' कहा जाता था।

16. **दौवारिक**—यह राज प्रासाद का प्रधान पदाधिकारी होता था। महल में प्रवेश करने के लिए दौवारिक पासपोर्ट देता था। राज प्रासाद से संबंधित प्रायः सभी कार्य इसको करने पड़ते थे।

17. **आंतर्वैशिक**—राजा के अंगरक्षकों का प्रधान होता था। महल के भीतर राजा की रक्षा का प्रबंध यही अधिकारी करता था।

18. **आटविक**—आटविक का पद भी बड़ा महत्वपूर्ण था। उसे राज्य के 18 तीर्थों में ही गिना गया है। 'आटविक बल' को सैन्य बल के अंतर्गत कौटिल्य ने सबसे अंतिम स्थान दिया है।[2] आटविक बल लूट-मार करने के काम आता था। इस प्रकार के बल के अध्यक्ष को आटविक कहा गया है।

सेना-विभाग का शासन : चन्द्रगुप्त की नीति समस्त छोटे राज्यों का अन्त कर भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में सुसंगठित करने की थी। वह बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था। उसके साम्राज्य का आधार सैन्य शक्ति थी। उसकी सेना चार भागों में विभाजित थी **पैदल, अश्वारोही, हाथी और रथ**। उसकी सेना स्थायी थी और सैनिकों को कोष से वेतन धन के रूप में दिया जाता था। सम्राट ही प्रधान सेनापति था। सेना का प्रबंध करनेवाला पदाधिकारी 'बलाध्यक्ष' के नाम

1. कौ० अर्थ० 2-36
2. कौ० अर्थ० 5-6

से प्रसिद्ध था। प्लिनी के अनुसार, चन्द्रगुप्त की सेना में रथों के अतिरिक्त छह लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही और नौ हजार गज थे। इतनी विशाल सेना की निगरानी के लिए तीस सदस्यों की एक प्रबंधकारिणी समिति थी। ये सदस्य 6 समितियों में विभाजित थे और प्रत्येक समिति का कार्यक्षेत्र एक दूसरे से भिन्न था। अर्थशास्त्र में मौल, भृतबल, श्रेणिबल, अरिबल और मित्रबल की भी चर्चा है। सेनाध्यक्ष के अतिरिक्त मौर्य सेना में हस्त्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, गो-ध्यक्ष इत्यादि प्रमुख पदाधिकारी थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में पांच प्रकार के दुर्गों का भी उल्लेख किया है—स्थल-दुर्ग, जल-दुर्ग, वन-दुर्ग, गिरि-दुर्ग और मरु-दुर्ग। इन दुर्गों की रक्षा की उचित व्यवस्था थी।

अस्त्र-शस्त्र पर राज्य का एकाधिकार था और इनके निर्माण के निमित कई सरकारी कारखाने स्थापित किये गये थे। जल मार्गों की रक्षा के लिए जन-सेना भी थी। सेना विभाग के प्रधान पदाधिकारी के अधीन बहुत से छोटे-छोटे सेना नायक थे। सैनिक-विभाग के अन्तर्गत एक सुसंगठित गुप्तचर-विभाग भी था। उस समय गुप्तचरों का बड़ा महत्त्व था। ये लोग प्रत्येक बात की सूचना राजा तक सदा पहुँचाते रहते थे। एरियन ने इन्हें ओवरसियर और स्ट्रेबो ने इन्सपेक्टर नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने भी संस्थाः तथा संचाराः दो प्रकार के गुप्तचरों का उल्लेख किया है। गुप्तचर बड़े-बड़े कर्मचारियों के कार्यों का भी निरीक्षण करते थे। अतः इस व्यवस्था से साम्राज्य में सम्राट का आतंक बना रहता था। न्याय-विभाग को भी गुप्तचरों से सहायता मिलती थी।

परराष्ट्र विभाग :—यह विभाग मौर्य युग में अत्यन्त सुव्यवस्थित था। इसे समस्त पश्चिम एशिया के विभिन्न राज्यों के सम्बन्ध में नीति निर्धारण करना पड़ता था। विदेशियों पर निगरानी रखने के लिए तथा उन्हें बीमारी में दवा-दारू की व्यवस्था करने के लिए, जो अधिकारी नियुक्त किये जाते थे, वे भी परराष्ट्र विभाग के ही पदाधिकारी थे।

राजस्व विभाग :—यह विभाग समाहर्त्ता के अधिन था। समहर्त्ता मालगुजारी, नहर-कर, चुंगी, दुकान-कर, जंगल तथा खानों की आमदनी की देखभाल करता था। पुरानी खानों का ठीक इन्तजाम करना, नयी खानों का पता लगाना, सरकारी जमीन पर कृषि का प्रबंध करना, वर्षा के पानी को नाप कर उसका रेकार्ड रखना आदि अनेक कार्य राजस्व विभाग के अधीन थे।

कोष विभाग :—इस विभाग का अधिकारी कोषाध्यक्ष एवं सन्निधाता था। राज्य को कर के रूप में न केवल सोना-चांदी या मुद्राएँ मिलती थीं, बल्कि अन्न, धान्य,

इंधन, तेल इत्यादि की भी प्राप्ति होती थी। अतः कोषाध्यक्ष का कार्य केवल हिसाब-किताब करना तथा सोने-चांदी को सुरक्षित रखना ही नहीं था, अपितु उसे पुरानी सामग्री बेचकर नयी सामग्री भी एकत्र कर खजाने में रखनी पड़ती थी। इस विभाग में गोप नामक एक पदाधिकारी था, जो गाँवों की जन संख्या और पशु संख्या का रेकार्ड रखता था। मौर्य-राज्य में समूचे राष्ट्र की जन संख्या के निर्धारण का कार्य एवं उसका प्रबन्ध कोष विभाग से ही किया जाता था।

वाणिज्य विभाग :—वाणिज्य व उद्योग विभाग का मौर्यकाल में बड़ा महत्त्व था। इस विभाग द्वारा वस्तुओं का मूल्य निश्चित किया जाता था। आवश्यक वस्तुओं के आयात का प्रबन्ध करना, निषिद्ध वस्तुओं पर रोक, राजकीय कारखानों का माल बाजार में भेजना, चुंगी-कर निश्चित करना, मदिरा के उत्पादन तथा बिक्री का प्रबन्ध, मांस-विक्रय पर निगरानी, बन्दरगाहों का ठीक प्रबन्ध आदि सब कार्य इस विभाग के अधीन थे। कताई-बुनाई का आयोजन करना इसी विभाग का काम था। संभवतः टकसाल भी इसी विभाग की देखरेख में कार्य करती थी।

न्याय विभाग :—इस विभाग का कार्य न्याय दान करना था। राजा सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश होता था। मौर्यकालीन दण्ड की कठोरता का उल्लेख मेगास्थनीज तथा कौटिल्य दोनों ने किया हैं। अर्थ दण्ड से लेकर अंगभंग तथा प्राण दण्ड तक का विवरण दोनों के ग्रंथों में प्राप्त होता है। अर्थशास्त्र के अनुसार दो प्रकार के न्यायालय विद्यमान थे—(1) धर्मस्थानीय (दीवासी अदालत) तथा (2) कंटकशोधन (फौजदारी)। इन दो न्यायालयों के अतिरिक्त ग्राम पंचायतें भी अपने प्रारंभिक रूप में चल रही थीं, जो छोटे-मोटे झगड़ों का अन्त बहुधा समझौते द्वारा किया करती थीं। मुख्य न्यायालय राजधानी में था, जिसका प्रमुख स्वयं राजा और उसकी अनुपस्थिति में पाड्विवाक होता था। प्रान्तों में, कमिश्नरियों में तथा जिलों में उनके अपने-अपने न्यायालय होते थे, जिनपर मुख्य न्यायालय नियंत्रण रखता था।

केन्द्र प्रान्तों में विभक्त था—मौर्य-साम्राज्य की स्थापना से भारत में एक ऐसी शासन-पद्धति का विकास हुआ, जो एक विशाल साम्राज्य के लिए उपयुक्त थी। मौर्य साम्राज्य का विस्तार आधुनिक भारत और पाकिस्तान से भी अधिक था। यद्यपि संपूर्ण मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कम्बोज, बंग और दक्षिण तक विस्तृत साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। मौर्यों ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसपर केवल केन्द्र से शासन करना असंभव था। इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि साम्राज्य के अनेक प्रान्त हों। अर्थशास्त्र में प्रान्तों के नामों का उल्लेख नहीं है, परन्तु अशोक के लेखों से यह ज्ञात

होता है कि शासन की दृष्टि से मौर्य साम्राज्य पांच भागों में विभक्त था,[1] जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी, दक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन्हें ध्यान में रखकर हम यह सहज अनुमान कर सकते हैं कि विशाल मौर्य साम्राज्य पांच चक्रों में विभक्त था। ये चक्र, प्रान्त या सूबे निम्नलिखित थे—

1. **उत्तरापथ**—इसमें कम्पोज, गांधार, कश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।
2. **पश्चिमी चक्र**—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना-मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी।
3. **दक्षिणापथ**—विन्ध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र में था और इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी।
4. **कलिंग**—इसकी राजधानी तोसाली थी।
5. **मध्यदेश**—इसमें वर्त्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे और इसकी राजधानी पाटलीपुत्र थी।[2]

इन पांच प्रान्तों के शासन के लिए प्रायः राजकुल के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था, जिन्हें कुमार कहा जाता था। कुमार अनेक महामात्रों की सहायता से अपने-अपने प्रान्तों का शासन संचालित करते थे।

इन पांच प्रांतों (चक्र) के अंतर्गत अनेक छोटे-छोटे शासन केन्द्र या मण्डल भी होते थे, जिनमें कुमार के अधीन महामात्य शासन थे। तोसाली के अधीन समापा, पाटलीपुत्र के अधीन कोशाम्बी और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में महामात्य रहते थे। उज्जयिनी के अधीन सुराष्ट्र एक पृथक प्रदेश था, जिसका महामात्य चन्द्रगुप्त मौर्य के

---

1. डा० हेमचन्द्र राय चौधरी ने उपर्युक्त पांच प्रान्तों में से उत्तरापथ, पश्चिमि चक्र तथा मध्यदेश को चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याधीन बताया है, किन्तु उन्होंने आगे यह भी लिखा है, "यह बिल्कुल ही असंभव-सा नहीं है कि दक्षिणापथ भी चन्द्रगुप्त के प्रान्तों में से एक था"—
   Political History of Ancient India, 6th Edn., p. 288.
2. मौर्यकालीन पांच प्रान्तों के पुराणों में बताये नाम निम्नांकित हैं :—
   (क) उदीच्य (उत्तरापथ)
   (ख) मध्यदेश
   (ग) प्राच्य (पूर्वी भारत)
   (घ) अपरान्त (पश्चिमी भारत)
   (ङ) दक्षिणपथ

समय वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय वहां का शासन यवन तुषास्प के अधीन था। मगध से जो आज्ञाएं प्रसारित होती थीं, वे कुमारों और महामात्यों के नाम से होती थीं। दक्षिणापथ में इसिला के महामात्य के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे वे, सुवर्णगिरि के कुमार या आर्यपुत्र के द्वारा भेजे। इसी प्रकार कलिंग में समापा के महामात्यों को तोसली के कुमार के मार्फत आज्ञा भेजी गयी। प्राची या मध्यदेश में किसी कुमार की नियुक्ति का संकेत नहीं मिलता है, क्योंकि इसका शासन सीधे सम्राट के अधिन था। अतः कौशाम्बी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे। कुमार की सहायता के लिए जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-संबंधी बहुत से अधिकार प्राप्त थे। शासकों की अज्ञाएँ कुमार और महामात्य दोनों के नाम से होती थी और कुमार भी महामात्य-सहित कुमार के नाम से आदेश जारी करते थे। कुमार या प्रान्तपति सीधे राजा के प्रति जिम्मेदार होते थे। इनके अधीन एक गुप्तचर विभाग होता था, जो इन्हें सभी बातों की सूचना देता रहता था। किन्तु प्रान्तीय शासकों पर केन्द्रीय शासन की ओर से गुप्तचर रहता था, जो इनके संबंध में सम्राट को सूचना देता था।

अशोक के समय तक्षशिला और तोसाली के अतिरिक्त ब्रह्मगिरि (मैसूर) में भी राज्यपाल राज्य का संचालन करते थे। ये राज्यपाल कुमार ही कहलाते थे। ऐसा अनुमान है कि एक प्रान्तीय अधिकारी अहिच्छत्र में भी रहता होगा।

प्रान्तीय कुमारों को सलाह देने के लिए एक प्रान्तीय मंत्रिमण्डल रहता था। सम्राट् सदैव इस बात का ध्यान रखते थे कि प्रान्तीय शासक सशक्त न हो सकें, इसलिए उनपर निगाह रखी जाती थी। बहागिरि और तोसाली के अभिलेखों में अशोक ने जो आदेश प्रकाशित किये हैं, वे केवल राजपुत्र या कुमार के नाम से नहीं हैं, प्रत्युत् 'समंत्रि-परिषद् राजपुत्र' के नाम से हैं। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि प्रान्तों में महामात्रों का ही मंत्रिमण्डल रहता था और प्रान्तीय शासक इसी मंत्रिमंडल की सहायता से राज्य संचालन करते थे। उनका मुख्य काम था—

(क) अपने क्षेत्र में शान्ति-सुव्यवस्था बनाये रखना,

(ख) राज्य के लिए कर वसूलने का प्रबंध करना,

(ग) अपनी सरकार के नीति के अनुसार सामन्तों और करदों पर नियन्त्रण रखना,

(घ) पड़ोसी राज्यों की नीति पर निगरानी रखना, तथा

(ङ) केन्द्रीय सरकार को समय-समय पर प्रतिवेदन भेजना।

प्रान्तीय सरकार को पर्याप्त सैन्य बल भी रखना पड़ता था। समाहर्ता और राजुक प्रादेशिक सरकार के अधिकारी माने जा सकते हैं और इनका सम्पर्क राजस्व विभाग

से भी था। संभवतः राजुक अपने प्रदेश के सर्वोच्च न्यायाधिकारी होते थे। अशोक ने राजुकों को दण्डसमता के लिए आदेश दिया था। 'प्रदिशिक' नामक एक कर्मचारी भी होता था। जनपद के शासन के लिए सम्राट् की ओर से समाहर्त्ता की नियुक्ति होती थी, परन्तु उसे जनपद के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। केन्द्रीय सरकार की ओर से जो राजकर्मचारी साम्राज्य के शासन के विविध पदों पर नियुक्त थ उन्हें पुरुष कहा जाता था और वे तीन प्रकार के होते थे—उत्तम, मध्यम और हीन। प्रान्तीय शासन से संबद्ध अधिकारी प्रादेशिक, प्रादेशिक, प्रदेष्य, समाहर्त्ता आदि उत्तम पुरुष कहलाते थे।

प्रान्त जिला में विभक्त था—

जिस प्रकार केन्द्र प्रान्तों में विभाजित था, उसी प्रकार प्रान्त भी अनेक मण्डलों में विभक्त था, जिसमें कुमार के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिए तोसाली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में महामात्य शासन करते थे। उज्जयिनी के अधीन सुराष्ट्र एक पृथक् 'देश' था, जिसका शासन चन्द्रगुप्त के समय वैश्य पुष्यगुप्त के अधीन था। अशोक के समय वहां का शासन पवन तुषाष्य के अधीन था। महामात्यों को शासन-संबन्धी बहुत सारे अधिकार प्राप्त थे। महामात्यों को राजा सीधे सम्बोधित किया करता था' जैसा कि अशोक ने कौशाम्बी के महामात्य के लिए किया था। इसिला और समापा के महामात्यों का ओहदा जिला अफसर का था। उपर्युक्त मण्डल जिला के ही रूप थे। इनके अतिरिक्त भी जिला रहे होंगे, जिनके संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

शासन की सुविधा के लिए मौर्यकाल में प्रान्तों के और भी उप-विभाग किये गये थे। अर्थशास्त्र में ये इस प्रकार दिये हुए हैं :—

1. जनपद
2. स्थानीय (इसमें 800 गांव शामिल थे)
3. द्रोणमुख (इसमें 400 गांव शामिल थे)
4. खार्वेटिक (इसमें 200 गांव शामिल थे)
5. संग्रहण (इसमें 10 गांव शामिल थे)
6. ग्राम

संभवतः स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का

स्थानिक कहलाता था। इनमें से 'स्थानीय' उस प्रदेश की सम्पदा का केन्द्र होता था,[1] जिसे हम उस समय की प्रान्तीय राजधानी कह सकते हैं। सम्पूर्ण जनपद के शासक को समाहर्त्ता कहते थे।

प्रान्तीय प्रशासन का प्रधान समाहर्त्ता होता था, जिसके अधिन अपने प्रांत के कई जिलों के स्थानिक (कलक्टर) होते थे।[1] वास्तव में हर प्रान्त चार जिलों में विभाजित होता था।[2] प्रत्येक जिला 'स्थानिक' नामक एक पदाधिकारी के अधीन होता था, जिसपर उस जिले की पूरी व्यवस्था का भार होता था (एवं च जनपद—चतुर्भागं स्थानिकः चिंतयेत्)।

जिला-शासन का विस्तृत विवरण

मौर्यकाल में 'जिला' को आहार, विषय और संभवतः प्रदेश भी कहा जाता था। 'आहार' शब्द का उल्लेख प्रथम लघुस्तम्भलेख और प्रथम लघुशिला लेख में हुआ है। 'आहार' सम्भवतः जिले के बराबर था और उसके नीचे तालुका होता था। तालुका को शायद 'कोटि-विषय' (प्रथमलघुस्तम्भलेख) कहा जाता था। सारनाथ, रूपनाथ व बह्मगिरि के लेखों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जिस क्षेत्र के रज्जुक मुख्याधिकारी थे, उनका नाम आहार था। चौथे स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि रज्जुकों का लाखों लोगों पर अधिकार था। अतः वे जिलाधीश से कम दरजे के नहीं थे। जिला (विषय) का शासक मौर्यकाल में विषयपति अथवा विषयाध्यक्ष कहा जाता था। इसका उल्लेख अशोक के लेखों में रज्जुक के बाद ही हुआ है और उसकी भांति इसे भी दौरे पर जाने को कहा गया है। इसी प्रकार कहीं-कहीं जिला के लिए 'प्रदेश' शब्द का भी उल्लेख मिलता है। विषयपति वर्त्तमान जिलाधीश

---

1. को० अर्थ (11, 3)
   (समुदयस्थानं धनोत्पत्तिस्थानभूतं)
2. को० अर्थ० I, 1
3. को० अर्थ० II, 35
   (समाहर्त्ता चतुर्धा जनपदं विभाज्य)।।

   समाहर्त्ता मूलतः एक राजस्व पदाधिकारी होता था, अतः उसका संबंध प्रान्त और जिला—दोनों से होना स्वाभाविक ही था। जैसे आजकल राजस्व से संबंधित पदाधिकारी को कमिश्नर और कलक्टर कहा जाता है, ठीक उसी तरह प्राचीन काल में समाहर्त्ता का स्थान था। समाहर्त्ता प्रान्त-जिला के अतिरिक्त केन्द्रीय शासन प्रणाली से भी संबंधित था क्योंकि वह राजस्व विभाग का प्रमुख पदाधिकारी होता था।

अथवा कलक्टर के समान होता था। स्मृतियों में उल्लिखित सहस्त्राधिप[1] अथवा सहस्र ग्रामों का शासक भी संभवतः यही अधिकारी है।

आहार, विषय और प्रदेश के शासन का वास्तविक प्रारम्भ कब हुआ, यह कहना कठिन है; किन्तु जब-जब केन्द्रीय सरकार मजबूत होती गयी, तब-तब प्रांत और जिलों के सरकारी संगठन का रूप भी बदलता गया। वैदिक काल में ग्राम-शासन का महत्त्व था और राजतन्त्र केवल सीमित कार्यों का ही सम्पादन करता था। बीच में अन्य कोई स्थानीय शाखा थी अथवा नहीं, यह कहना अभी कठिन है। यों वैदिक काल में विशाम्पति और जनपति के नाम भी मिलते हैं।

मौर्यकाल में प्रांत अनेक मण्डलों में विभक्त थे, और प्रत्येक मण्डल में बहुत-से जनपद होते थे। मण्डलों में महामात्य कुमार के अधीन शासन करते थे। इस प्रकार के कुछ मण्डलों का उल्लेख अशोक के शिला लेखों में हुआ है, जिन्हें अर्थशास्त्र में प्रांतों की राजधानी बताया गया है; जैसे, दक्षिण में इसिला तथा समापा और आज-कल के उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद के समीप कौशाम्बी। इन केन्द्रों के शासक 'प्रादेशिक महामात्र' या राजुक कहलाते थे, जो लाखों लोगों पर शासन करते थे। इन्हें शासन के व्यापक अधिकार मिले हुए थे। इसिला तथा समापा के महामात्रों का पद जिला अफसर का था।

कौटिल्य ने जनपदों का उल्लेख किया है, जिन्हें मगध साम्राज्य में पीछे मिला लिया गया। जनपद की राजधानी या पुर की सभा को **पौर** और शेष प्रदेश की सभा को **जानपद** कहते थे। प्रत्येक जनापद के अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र भी होते थे। जनपदों के शासन के लिए समाहर्त्ता की नियुक्ति की जाती थी। किन्तु समाहर्त्ता भी जनपद के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। स्वशासन के दृष्टिकोण से हटकर जनपद की स्थिति एक समान नहीं थी। मौर्यकाल में परम्परागत ग्रामसंघ भी विद्यमान थे। कौटिल्य के अनुसार, जनपद की परम्पराओं को अक्षुण्ण रखा जाना चाहिए। स्थानीय शासन में पुरानी परम्पराओं का जारी रहना आवश्यक माना जाता था। जनपद में जानपद सभा होती थी। जनपद के समूहों (मण्डलों) के ऊपर शासन करनेवाला महामात्य, प्रादेशिक या प्रदेष्टा कहलाता था। जनपद के शासक को समाहर्त्ता कहा जाता था। समाहर्त्ता के ऊपर महामात्र मण्डलों के शासन के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। इनके ऊपर कुमार और उनके सहायक महामात्र होते थे और सबसे ऊपर मौर्य सम्राट रहता था।

मौर्यकाल में कर्मचारियों का क्रम इस प्रकार था—प्रादेशिक या प्रदेष्टा-समाहर्त्ता-युक्त। अशोक के तृतीय शिलालेख में पहले युक्त, पश्चात् राजुक और तत्पश्चात्

1. मनु० 7. 115; विष्णु 3, 7-10.

प्रादेशिक निर्दिष्ट किये गये है। अतएव यह मानना युक्तिसंगत है कि प्रादेशिक राजुकों से भी बड़े अधिकारी थे।

प्रान्त (जनपद) मण्डलों में विभक्त था, जिनमें से कुछ एक-स्थानिक के अधीन होता था। इस प्रकार के प्रत्येक मण्डल को फिर 5-5 या 10-10 गांवों के समूह में बाँट दिया जाता था, जिनमें प्रत्येक एक गोप के अधिन होता था। गोप तथा स्थानिकों के अतिरिक्त स्थानीय शासन के सिलसिले में निम्नलिखित कर्मचारियों का उल्लेख है-

(क) सुवर्णाध्यक्ष—सोने तथा रत्न-आभूषणों के काम पर निगरानी रखनेवाला अधिकारी।

(ख) संख्यापक—गांव का मुनीम।

(ग) अनीकस्थ—हाथियों को साधनेवाला।

(घ) चिकित्सक—गांव का वैद्य।

(ङ) अश्वदमक—घोड़ों का साधनेवाला।

(च) जांघिक—

(छ) दूरदेशगतागतजीवी—हरकारा तथा संदेशवाहक।[1]

इस प्रकार मण्डल में समाहर्त्ता, स्थानिक और गोप जैसे प्रमुख अधिकारी हुआ करते थे। प्रदेष्टार: का संबंध निरीक्षण कार्य से था। नागरक एक शासनाधिकारी की हैसियत से समाहर्त्ता के अधीन होता था। नगर में नागरक का वही स्थान होता था, जो प्रांत में समाहर्त्ता का। स्थानिक अपने मण्डल का प्रधान होता था और गोप पर नियंत्रण रखता था। कौटिल्य के अनुसार[2] प्रशासन की इकाई जनपद अथवा प्रांत था, जिसमें आम तौर पर कम-से-कम 800 गांव होते थे। प्रत्येक गांव में 100 से 500 परिवार होते थे (कुलशतावरं पंचशतकुलपरम्)। यदि एक साधारण परिवार में, जो संयुक्त परिवार (कुल) होता था, हम दस सदस्य मान लें—तीन भाई और उनके बाल-बच्चे, तो प्रत्येक प्रान्तीय प्रशासन के अन्तर्गत 40 लाख लोग थे। अशोक के एक लेख[3] में कहा गया है कि प्रान्तीय शासक (राजुक) "कई लोगों पर" शासन करता था।

डा० अलतेकर के अनुसार जिला या आहार स्थानीयों में विभाजित था, जिसमें प्राय: 800 गांव होते थे। प्रशासन के प्रधान केन्द्र 800, 400, 200 तथा 10 गांवों

1. कौ० अर्थ० I', 1.
2. कौ० अर्थ० II, 1
3. स्तंभलेख 5

के बीच स्थित होते थे, जिन्हें कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में क्रमशः स्थानीय, द्रोणमुख खार्वटिक तथा संग्रहण कहा गया है। सम्भवतः स्थानीय, द्रोणमुख और खार्वटिक शासक की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। स्थानीय में लगभग 800 गांव होते थे किन्तु कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशों में आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' में गांवों की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयों को द्रोणमुख या खार्वटिक कहा जाता था।

प्रत्येक प्रांत चार जिलों में विभक्त होता था,[1] जिनमें से प्रत्येक जिला 'स्थानिक' नामक एक पदाधिकारी के अधीन होता था, जिसपर उस जिले की पूरी व्यवस्था का भार होता था। समाहर्त्ता के नीचे स्थानिक जिले का कलक्टर होता था।[2] 'प्रादेशिक' एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था और इसका पद गवर्नर के नीचे होता था। इसकी तुलना वर्त्तमान आयुक्त से की जा सकती है।

'प्रादेशिक' आयुक्त की तरह और राजुक जिलाधिकारियों की तरह होते थे। ऐसा लगता है कि अशोक के 'प्रादेशिक' और अर्थशास्त्र के 'प्रदेष्टार' एक ही प्रकार के अधिकारी थे। प्रादेशिक या प्रदेष्टा का मुख्य काम था—

(क) कर वसूल करना,

(ख) विविध विभागों के कामों पर नियंत्रण रखना।

(ग) न्याय प्रदान करना,

(घ) राजस्व का काम करना।

प्रादेशिक के पश्चात् राजुक भी महत्वपूर्ण अधिकारी था, जिसे अशोक ने लाखों व्यक्तियों पर शासन के लिए नियुक्त किया था। अशोक ने राजुकों को दीवानी, फौजदारी और राजस्व-संबंधी व्यापक अधिकार दिया था। राजुक[3] भूमिकर वसूल करते थे और न्यायदान का भी कार्य करते थे। फौजदारी अपराधों के संबंध में उन्हें स्वायत्तता थी। धात्री की तरह उन्हें प्रजा के कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहना पड़ता था। कर वसूल करना, रास्ता-घाट की मरम्मत करवाना, व्यापार की वृद्धि के लिए परिस्थिति अनुकूल बनाना, बांध, नदी, आदि का प्रबन्ध करना भी राजुकों का मुख्य कर्त्तव्य माना गया है। विभिन्न अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजुक आहार के मुख्याधिकारी थे। स्थानीय अधिकारियों (स्थानिक, गोप)

1. कौ० अर्थ० 11, 35—एवं च जनपद—चतुर्भागं स्थानिकः चिन्तयेत्।
2. कौ० अर्थ 1, 1
3. चतुर्थस्तम्भलेख

को वसूली, शासकीय और न्याय निषयक अधिकार रहते थे। शुक्त का सम्बन्ध भी स्थानीय शासन से था।

मौर्यकाल के पश्चात् भी मुक्ति और विषय की शासन-पद्धति यथावत् रही, किन्तु विदेशियों ने इनमें थोड़ा-बहुत हेरफेर अपनी सुविधा के लिए किया। राजुक नाम बहुत दिनों तक प्रचलित रहा। जिले के अधिकारी अमात्य भी कहलाते थे। जिले को आहार या विषय भी कहा गया था। सतवाहन लेखों से ज्ञान होता है कि कभी आहार और राष्ट्र भी पर्यायवाची माना जाता था। जिलाधीश का वास्तविक नाम क्या था, यह पता नहीं है, किन्तु अमात्यों से जिला-शासन का काम चलता था, ऐसा ज्ञात होता है। प्रादेशिक या राजुक अपने क्षेत्र के सर्वोच्च न्यायाधिकारी थे, परन्तु मौर्य युग के बाद ऐसी बात नहीं रह गयी।

जिले को इसवी सन् के प्रारम्भ में काठियावाड़ में आहरणी[1] और मध्य प्रदेश, आन्ध्र तथा तमिल प्रदेशों में राष्ट्र कहते थे। जिला का नाम विभिन्न प्रदेशों तथा काल-खण्डों के अनुसार बदलते रहे।

न्याय व्यवस्था—मौर्य साम्राज्य में न्याय के लिए अनेकविध न्यायालय होते थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्रामसंस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमें ग्राम के निवासी अपने मामलों का निवटारा स्वयं करते थे। इसके ऊपर संग्रहण 10 ग्राम, द्रोणमुख 400 ग्राम, स्थानीय 800 ग्राम और फिर जनपद सन्धि के न्यायालय होते थे।[2] इनमें सीमा विवाद के साथ अन्य विषयों के विवादों का निर्णय किया जाता था। जनपद सन्धि में दो राज्यों एवं जनपदों की सीमा के विवाद रखे जाते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये न्यायालय जिला-न्यायालय के ही अंग थे। इनके ऊपर पाटलिपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालय थे। सबसे ऊपर राजा होता था, जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले पर अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्रामसंघ और राजा के न्यायालय के

---

1. एपि० इंडि० 16 पृ० 18; 26 पृ० 261; इडि० ऐंटि० 5 पृ० 155—अशोक द्वारा शासन में किये गये सुधार काफी महत्वपूर्ण और मौर्य शासन का प्रभाव मौर्योंदर भारत पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा जा सकता है। सही अर्थ में भारतीय शासन की सभी विधाओं की नींव मौर्य काल में ही पड़ी थी।

2. "धर्मस्था स्त्रयस्त्रयो वाऽमात्याः जनपदसन्धि-संग्रहण द्रोणमुख स्थानीयेषु व्यावहारिकान् अर्थान् कुर्युः।"

कौ० अर्थ० 3-1

अतिरिक्त बीच के सब न्यायालय भी धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागों में विभक्त रहते थे। 'धर्मस्थीय' न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक और 'कण्टकशोधन शोधन' के प्रदेष्टा कहलाते थे।[1]

धर्मस्थीय—धर्मस्थीय न्यायालय में निम्नलिखित मुकदमे आते थे—व्यवहार का मामला,[2] 'समय' कान्ट्रैक्ट) का मामला,[3] स्वामी और मृत्य का मामला,[4] दासों के झगड़े,[5] ऋण चुकाने का मामला,[6] क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामले,[7] धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए झगड़े,[8] चोरी या लूट के मुकदमें,[9] गाली, कुवचन या मान-हानि का मामला,[10] किसी पर हमला करने का मामला,[11] जुए से संबद्ध झगड़े,[12] मिल्कियत से संबद्ध विवाद,[13] सीमा और मकान से संबद्ध झगड़े,[14] पति-पत्नी-सम्बन्धी झगड़े,[15] चारागाह और खेत से सम्बद्ध झगड़े,[16] स्त्री-धन-सम्बन्धी विवाद,[17] सम्पत्ति का बंटवारा और उत्तराधिकार का प्रश्न,[18] साझे के मामले,[19] और विविध

1. "प्रदेष्टारस्त्रय स्त्रयो वाग्रमान्याः कण्टकशोधनं कुर्युः"
को० अर्थ० 4-1
2. 'व्यवहार स्थापना' को० अर्थ० 3-2
3. 'समयस्यानपाकर्म' को० अर्थ 3-10
4. 'स्वाम्याधिकारः' मृतकाधिारः को० अर्थ० 3-12
5. 'दासकल्पः' को० अर्थ० 3-13
6. 'ऋणदानम्' को० अर्थ० 3-11
7. विक्री तक्री तानुशयः' को० अर्थ० 3-15
8. धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए झगड़, 'दत्तस्यानपाकर्म', को० अर्थ० 3-16
9. 'साहसम्' को० अर्थ० 3-17
10. 'वाक्पारुष्यम्' को० अर्थ० 3-18
11. दण्डहयारुष्यम्' को० अर्थ० 3-19
12. द्यूतसमाहणयम्' को० अर्थ० 3-20
13. 'स्वस्वमिसम्बन्धः' को० अर्थ० 3-16
14. 'सीमा-विवादः' को० अर्थ० 3-8
15. 'गृहवास्तुकम्' को० अर्थ० 3-8
16. 'विवाह धर्मः' को० अर्थ० 3-2
17. 'विवी तक्षेत्रपथहिंसा' को० अर्थ० 3-8
18. 'स्त्री धनकल्प' को० अर्थ० 3-2
19. 'दायविभागः, दायक्रमः, अंशविभागः' को० अर्थ० 3-3

मामले।[1] तीन धर्मस्थ (विधिज्ञ) और न्यायाधीश प्रत्येक न्यायालय में नियुक्त किये जाते थे। न्ययाधीश निर्णय में विधि के अतिरिक्त देश, काल और वर्गों के आचार को प्राथमिकता देते थे।[2] दायभाग में देश के जाति, संघ और गांवों के नियम के अनुसार ही निर्णय किया जा सकता था।[3] सामान्यतया निर्णय के आधार धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज शासन थे।[4]

इनके अतिरिक्त ग्राम-सभाओं के माध्यम से निर्णय होता था। ग्राम-सभाओं में राज्य की ओर से न्यायाधीशों की नियुक्ति नहीं होती थी। गांव के किसान गोपालक, वृद्ध तथा अन्य बाहर के अनुभवी पुरुष एक या अनेक निर्णय करते थे।[5] इन सभाओं के कार्य-क्षेत्र में घर, खेत, बाग, सीमा-विवाद, तालाब और बांध-सम्बन्धी अपराध थे। क्षेत्र की सीमा का विवाद ग्राम वृद्धों की सभा करती थी। यदि उनमें मतभेद हो जाय तो धार्मिक एवं पवित्र व्यक्ति, जिन्हें प्रजा स्वीकार करती हो, वे निर्णय कर सकते थे। इनके विकल्प में पंचनिर्णय की व्यवस्था थी।[6] इनसे निर्णय न होने पर राज्य हस्तक्षेप कर सम्पत्ति अपने अधिकार में कर लेता था।[7] ग्रामों एवं अन्य सभाओं के साथ परिषद् भी न्याय करती थी। इसके कार्य-क्षेत्र में जातीय विवाद आते थे।[8] न्यायालय प्रातःकाल से प्रारंभ होते थे। उनमें कार्यवाही लिखने के लिए लेखक था। शीघ्र न्याय की व्यवस्था थी। स्थानीय न्यायालयों से केन्द्र तक का परस्पर वैधानिक सम्बन्ध था।

कण्टकशोधन न्यायालय : धर्मस्थीय के अतिरिक्त कण्टकशोधन न्यायालय था। इसमें शिल्पी, व्यापारी, दैवी विपत्ति और चोरों से प्रजा की रक्षा, आशुमृतक परीक्षा,

---

1. 'प्रकीर्णकानि' कौ० अर्थ० 3-20
2. अर्थशास्त्र 3. 1. 17।
3. अर्थ० 3. 7. 45।
4. अर्थ० 3. 1. 51।
5. अर्थशास्त्र 3. 9. 12.
6. क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धा कुर्युः। तेषां द्वैधीभावे यातो बहवः शुचयो अनुमता वा ततो नियच्छेयुः। मध्यं वा गृहणीयुः ।।
   अर्थ० 3. 9. 16-18.
7. तदुभयं पराक्रं वास्तु राजा हरेत्, अर्थ० 3. 9. 19.
8. Cambridge History of India, Vol. I, p. 485.

शुद्ध एवं चित्र दण्ड का परिगणन किया गया है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय हित की अवहेलना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करनेवाले को कण्टक कहा गया है। उनसे समाज एवं राष्ट्र की रक्षा करना इस न्यायालय का कार्य था। इसीलिए इसे कण्टकशोधन कहा गया। भारतीय न्यायपालिका में कौटिल्य का यह प्रथम सफल प्रयोग था, जिससे उन्होंने अपने युग की समस्या का व्यावहारिक समाधान किया। परिणाम यह हुआ कि मेगास्थनीज ने देखा कि भारत में अपराध होते ही नहीं।[1]

कण्टकशोधन के न्यायाधीश राज कर्मचारी के रूप में थे।[2] इस न्यायालय का मुख्य कार्य था—(1) हत्या एवं डाका जैसे गम्भीर अपराधों की सत्यता के लिए आयोग नियुक्त करना (2) विवेक एवं वैयक्तिक अधिकार से निर्णय को अन्यथा रूप देने से रोकना (3) राजकर्मचारियों एवं न्यायाधीशों से किसी प्रकार की न्यायिक दुर्व्यवस्था का निरीक्षण करना। न्यायाधीशों पर इतना नियंत्रण था कि वे न्यायालय में आये हुए वादी एवं प्रतिवादी को धमकाने, भर्त्सना करने, गाली देने जैसे अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकते थे। वे अनावश्यक प्रश्न भी नहीं पूछ सकते थे। न्यायालयों के निरीक्षण के लिए समाहर्त्ता और प्रदेष्टा के स्वतंत्र विभाग थे।[3]

कण्टकशोधन न्यायालय को प्रायः दण्डापराध विधि (क्रिमिनल लॉ) का प्रथम न्यायालय माना जाता है। परन्तु धर्मस्थीय और कण्टकशोधन के विषय विभाग देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि दण्डापराध विधि में जिनका परिगणन किया जाना चाहिए वे सब धर्मस्थीय के परिगणन में आ जाते हैं। धर्मस्थीय के कुछ विषय कण्टकशोधन में भी आये हैं। प्रमाण के लिए धर्मस्थीय में स्त्री संग्रहण के रहते हुए कण्टकशोधन में कन्या-प्रक्रम का परिगणन किया गया। लेकिन दोनों अपराध के दण्ड एवं प्रक्रिया के अन्तर देखने से स्पष्ट होता है कि दोनों में मात्रात्मक और गुणात्मक भेद उपलब्ध हैं। वस्तुतः कण्टकशोधन को दण्डापराधविधि के न्यायालय के स्थान पर पुलिस न्यायालय कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस न्यायालय के द्वारा राजनीति एवं सामाजिक कण्टकों का शोधन होता था, जिसमें पूर्ववर्त्ती परम्परा से असामान्य व्यवस्था थी।

---

1. Indian Antiquary, 1877, pp. 131-2.

2. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वामात्यः कण्टकशोधनं कुर्युः।

अर्थशास्त्र 4. 1. 1.

3. अर्थशास्त्र 4. 9.

एन० सी० बनर्जी के अनुसार 'राजशासन की शक्ति के विकास के बाद कण्टकशोधन का संगठन आवश्यक हो गया।[1] मोनशन के अनुसार इसमें सैनिक प्रशासन, जन-सुरक्षा, निर्गम अपराधों की प्रक्रिया एवं दण्डापराधों का संमिश्रण कर दिया गया।[2] के० वी० रंगास्वामी आयंगार ने कण्टकशोधन का अनुवाद पुलिस न्यायालय किया है।[3] अन्य विद्वानों ने भी इसे पुलिस न्यायालय के समान ही माना है।[4] वस्तुतः इस न्यायालय का संगठन कौटिल्य ने देश की अशान्ति उत्पन्न करने वाली शक्तियों को समाप्त करने के लिए विशेष रूप से किया है। इसका संचालन आदि विशेष न्यायालय के रूप में होता था। इसमें दण्डापराध विधि के विषय अवश्य आते हैं, किन्तु उनका भी निर्णय पुलिस न्यायालय के ढंग से होता था।

राजस्व-शासन—जिला शासन के अन्तर्गत राजस्व विभाग में तीन श्रेणियों के अधिकारी होते थे—(1) समाहर्ता, राजस्व जमा करनेवाला मुख्य अधिकारी, जो इस विभाग का प्रधान होता था; (2) स्थानिक, तथा (3) गोप। कौटिल्य के अनुसार जनपद[5] के चार मण्डलों में से प्रत्येक मण्डल के गाँव अपनी आबादी तथा अपनी आय के अनुसार तीन श्रेणियों में बाँट दिये जाते थे।

दस्तावेज—विभिन्न प्रकार के लिखित दस्तावेज (निबंध) तैयार किये जाते थे, जिनमें विभिन्न प्रकार के गाँवों की सूची होती थी। जैसे, (1) जिन गांवों का लगान माफ हो (परिहारक); (2) जो गाँव लगान के बदले सैनिक-सेवा करते थे; (3) जो नियमित रूप से आंका जानेवाला लगान (प्रतिहारः प्रतिनिपातः करः) धान्य (अनाज अथवा दूसरी फसलों) की निर्दिष्ट मात्रा के रूप में अदा करते थे।[6] इनमें विभिन्न प्रकार के पशुओं की संख्या, तथा यह विवरण कि वे भारवाहक पशु हैं, या दूध अथवा ऊन देने वाले पशु (वाह-दहि-लोमादि-उपकृनिपशन इति पशुकरः), सिक्के बनाने में इस्तेमाल किए जानेवाले (कोश-प्रवेश्य) सोना, चाँदी तथा तांबे जैसी बहु-मूल्य धातुओं (हिरण्य), कच्चे माल (कुप्य) की अनुमानित मात्रा तथा श्रमिकों

1. N. C. Banerjee; Kautilya, P. 76; R. K. Chaudhry Kautilya's political Ideas and Institution.
2. Monshan; Early History of Bengal, P. 110.
3. K. V. R. Aiyangar; Some Aspects of Ancient Indian Polity P. 44.
4. Radha Kumud Mukherjee : Chandragupta Maurya and His times.
5. को० अर्थ० II, 1
6. आयुधीयं दण्डकरक्षयकंग्रामागम्; प्रतिहार प्रतिनिपातः करः।

(विष्टिकर्मकरपुरुषाः) की अनुमानित संख्या का हिसाब दिया रहता था।[1] इस प्रकार गावों के ब्योरे में प्रत्येक गाँव का पूरा सार-तत्व (ग्रामाग्रं), उसका आर्थिक मूल्य तथा साधन (प्रतिशिवकम्) तथा पूरे देश के हित में वह किस प्रकार का योग देता है, यह सब कुछ दर्ज रहता था। साथ ही, इन दस्तावेजों में किसी भी मण्डल के सभी गाँवों का सामूहिक सार-तत्व (सामूहिकं च परिमाणम्) भी दर्ज रहता था।

ब्योरा—राज्य की आय तथा उसके साधनों में प्रत्येक गाँव द्वारा दिए जाने वाले योग के अनुसार सभी गाँवों को इस प्रकार अलग-अलग श्रेणियों में बाँट देने के बाद निम्नलिखित बातों की दृष्टि से हर गाँव का अलग-अलग अध्ययन भी किया जाता था और गोप अपने से संबंधित सभी आवश्यक बातें अपने निबंध में दर्ज कर लेता था। हर गाँव का अलग-अलग अध्ययन इन बातों की दृष्टि से किया जाता था—

1. नदियों या चट्टानों आदि जैसी सुनिश्चित सीमाओं द्वारा हर गाँव की सीमा-रेखा का निर्धारण और इस सीमाबद्ध गाँव (सीमावरीधेन ग्रामाग्रम) का क्षेत्रविस्तार मालूम करना।

भूमि के विभिन्न हिस्सों (क्षेत्र) को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित करना तथा उनको नापना :—

(क) खेती की भूमि, (ख) बंजर तथा परती जमीन, (ग) ऊबड़-खाबड़ तथा सूखी जमीन, (घ) धान के खेत (केदार), (च) उद्यान (आराम); फलों के बाग (षण्ड), (छ) ईख आदि के खेत (वाट), (ज) ग्रामवासियों की ईंधन की सुविधा के लिए जंगल (वन), (झ) आबादी का इलाका, जिसपर घर बने हों (वास्तु), (ट) पूजा के वृक्ष (चैत्य), (ठ) मंदिर (ड) सिंचाई की व्यवस्था (सेतु), (ढ) श्मशान भूमि, (त) भिक्षागृह (सत्र), (थ) पशुओं को पानी पिलाने के स्थान (प्रपापानीयशाला), (द) तीर्थस्थान, (ध) चारागाह (विदीत) और (न) सड़कें।

2. ऐसे ब्योरे तैयार करना, जिनमें निम्नलिखित बातें दर्ज हों :—

(क) विभिन्न खेतों की सीमाएँ (मर्यादा) तथा क्षेत्रफल (प्रमाणम्), (ख) सार्वजनिक उपयोग के लिए वन (अरण्य), (ग) खेतों में जाने के रास्ते (पथ), (घ) दान में मिले हुए खेत (सम्प्रदान), (च) बिक्री (विक्रय) में प्राप्त किये गये खेत, (छ) कृषकों को दिया गया ऋण (अनुग्रह), और (ज) सरकार द्वारा लगान में दी गई छूट (परिहार)।

1. कौ० अर्थ० II, 35.

3. गाँव में बसनेवाले सभी परिवारों की जन-गणना तैयार करना, जिनमें ये बातें दी जाएं :—

(क) रजिस्टर में प्रत्येक परिवार का क्रमांक, (ख) वह परिवार कर देता है या करमुक्त है, (ग) उस परिवार में कितने ब्राह्मण, कितने क्षत्रिय, कितने वैश्य तथा कितने शुद्र हैं, (घ) गाँव में कितने कृषक, चरवाहे, व्यापारी, शिल्पकार, कारीगर तथा दास हैं, (च) मनुष्यों तथा पशुओं की संख्या, (छ) हर परिवार राज्य को नकद धन, श्रम-कर तथा सैनिक सेवा के रूप में कितना देता है, (ज) हर परिवार में पुरुषों तथा स्त्रियों की संख्या तथा उनकी अवस्था, (झ) वर्ण (जाति) के अनुसार उनके व्यवसाय, (ट) गाँव के तथा उस परिवार-विशेष के रीति-रिवाज, (ठ) हर परिवार की आय तथा व्यय का ब्योरा।[1]

हर गाँव का इस प्रकार ब्योरेवार रजिस्टर तैयार हो जाने से सरकार को देहातों की हालत का पूरा-पूरा पता रहता था और उसे किसी भी दशा में अटकल से काम नहीं लेना पड़ता था। चूँकि ग्रामवासियों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी का यह विवरण हर समय ठीक रखना पड़ता था, इसलिये थोड़े-थोड़े समय बाद गांवों की परिस्थितियों का सर्वेक्षण आवश्यक था।

इस पद-सोपान में गाँव का सबसे निचला अधिकारी तो अपने शासनाधिकार के गाँव का पूरा ब्योरा रखता ही था, पर उसके अतिरिक्त उससे ऊपर का दूसरा राजस्व अधिकारी स्थानिक भी, जो प्रान्त के चार विभागों में से (जनपद-चतुर्भागम्) एक का शासनाधिकारी होता था, अपने मण्डल के बारे में इसी प्रकार का ब्योरा तैयार रखता था।

निरीक्षक प्रदेष्टारः :—राजस्व मंत्री इस प्रशासन पद्धति का पालन करने के लिये निरीक्षक (प्रदेष्टारः) नियुक्त करता था। यह गुप्तचर के रूप में देश का चक्कर लगाता था और रजिस्टरों का निरीक्षण करता था। यह भाग-भोग परिहार की प्रामाणिकता जाँचता था। ये लोग सभी मार्गों का भी निरीक्षण करते थे और सरकारी विभागाध्यक्षों पर भी निगरानी रखते थे। प्रदेष्टा प्रत्येक जिले में अपने अधीन काम करने वाले राजस्व अधिकारियों के काम का निरीक्षण करता था। समाहर्त्ता शहर तथा देहात के निवासियों से चंदे की अपील कर पैसा जुटा सकता था।

जिला-शासन के प्रमुख पदाधिकारी एवं उनके कर्त्तव्य :—

अशोक के अभिलेखों से हमें विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियों का बोध होता है, उनमें से अधिकांश अर्थशास्त्र में उल्लिखित पदाधिकारियों से मिलते-जुलते हैं। इनमें निम्नलिखित जिला-पदाधिकारियों का उल्लेख है :—

1 .कौ० अर्थ० ॥, 35.

1. **महामात्र**[1]—अभिलेखों में ऊँचे कर्मचारियों के लिए महामात्र शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिलेखों के अध्ययन से महामात्र की कई श्रेणियाँ मालूम पड़ती हैं। कुछ तो केवल 'महामात्र' कहलाते थे और कुछ के नामों के पहले या पीछे उनके विभाग का सूचक शब्द जोड़ दिया जाता था; जैसे, धर्ममहामात्र, स्त्री अध्यक्ष महामात्र, अन्तमहामात्र, महामात्र-नगर-व्यावहारिक, महामात्र नागरक। कुछ महामात्र मन्त्री भी होते थे। कुछ महामात्र ऐसे होते थे, जिन्हें आवश्यक कार्य सौंपे जाते थे और परिषद् उन्हें सलाह दिया करती थी। यदि परिषद् के सदस्यों और महामात्रों में मतैक्य होता था तो राजा से पूछने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। अशोक न्याय विभाग के काम के निरीक्षण के लिए महामात्र भेजा करता था।

साम्राज्य के जिले तथा नगरों में महामात्र स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। अशोक के शिला-लेखों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि पाटलीपुत्र, कौशाम्बी, तोसली, सुवर्णगिरी, समाया तथा हसिला में महामात्रों की नियुक्ति की गयी थी। सुवर्णगिरी और तोसली में महामात्रों का उल्लेख कुमार के साथ हुआ है।

इन महामात्रों को निश्चित ही मन्त्री का पद प्राप्त था। महामात्रों को राजा सीधे भी सम्बोधित किया करता था, जैसा कि अशोक ने कौशाम्बी के महामात्र के लिए किया था। हसिला और समाया के महामात्रों का पद (ओहदा) जिला अफसर का था। "महामात्र नागरक" या 'नगर व्यावहारिक' नगर के न्यायाधिकारी थे। इन्हें आज्ञा देना राजा अपनी कार्य-सिद्धि का मुख्य साधन मानता था। विभिन्न पंथों की देखरेख के लिए अलग महामात्र थे। पंचम और द्वादश शिला लेखों तथा सप्तम स्तम्भ लेख में धर्ममहामात्र का उल्लेख है। धर्ममहामात्र सभी पन्थों पर धर्माधिष्ठान और धर्मवृद्धि के लिए नियुक्त थे। सभी धर्मावलम्बी और 'पाषण्ड' उसके अधिकार-क्षेत्र में पड़ते थे। जनता में धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार और प्रसार करना उसका मुख्य काम था। सब 'पाषण्डों' की सार वृद्धि करना भी उन्हीं का काम था। यवन, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक तथा अपरान्तवासियों के बीच धर्म का प्रचार करना और उन लोगों के हित-सुख की बात करना भी उन्हीं के अधिकार-क्षेत्र में था। भृत्यों, आर्यों, ब्राह्मणों, इभ्यों (गृहपतियों), अनाथों और वृद्धों के बीच धर्म-प्रचार और कल्याणार्थ भी धर्ममहामात्र नियुक्त थे। वे सर्वत्र धर्मयुक्तों पर नियुक्त थे और यह देखना उनका काम था कि लोग धर्मनिश्चित, धर्माधिष्ठित और दानसंयुक्त हैं अथवा नहीं। न्याय-सम्बन्धी काम भी उन्हें सौंपा जाता था।

---

1. विभिन्न मतों के विवेचन के लिए देखिये :—
Romila Thapar—**Asoka and the Decline of the Mauryan Empire.**

विपत्तिग्रस्त के कल्याणार्थ वे नियुक्त थे। राजधानी में और अन्य दिशाओं में वे अनेक प्रकार के तुष्टिजनक कार्य करते थे। धर्म कार्यों की उन्नति में वे सदा संलग्न रहते थे। सन्यासियों तथा गृहस्थों के बहुविध अनुग्रहिक अर्थों पर ध्यान रखना उनका कर्त्तव्य था। राज्य के अनुग्रहपूर्ण कार्यों पर उनकी निगरानी रखती थी।

प्रथम लघुशिलालेख में स्वर्णगिरी और इसिला के महामात्र, पंचमशिलालेख में धर्ममहामात्र, षष्ठ शिलालेख में महामात्र, द्वादशशिलालेख में धर्महामात्र, और स्त्री अध्यक्ष-महामात्र, प्रथमकलिंगशिलालेख में तौसली और समाया के महामात्र, द्वितीय कलिंग-लेख में तौसली और समाया के महामात्र, महामात्र-नगर-व्यावहारिक, महामात्र-नागरक और महामात्र; प्रथम स्तम्भलेख में अन्तमहामात्र, सप्तम स्तम्भलेख में धर्म-महामात्र, महामात्र, प्रथम लघुस्तम्भलेख महामात्र और कौशाम्बी के महामात्र और द्वितीय मघुस्तम्भलेख में सब जगहों के महामात्रों का उल्लेख मिलता है। अशोक के शासन में महामात्र का क्या महत्व था, यह इस विवरण से स्पष्ट है। स्त्री-अध्यक्ष-महामात्र 'स्त्री-विभाग का काम करते थे और धार्मिक शान्ति तथा सारवृद्धि के लिए सचेष्ट रहते थे। अन्तमहामात्र पड़ोसी राज्यों में काम करते थे।

अर्थशास्त्र के महामात्र और अशोक के महामात्र शायद एक ही प्रकार के लोग थे। महामात्र और अध्यक्ष एक ही श्रेणी के सेवक माने जा सकते हैं। महामात्र राज्य के सेवा वर्गों में सर्वोच्च वर्ग था और ये केन्द्र और प्रान्तों में रहते थे। महा-मात्र चक्रों के अन्तर्गत विविध मण्डलों का शासन करने के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। जनपदों के समूहों (मण्डलों) के ऊपर शासन करने वाले महामात्रों की संज्ञा सम्भवतः प्रादेशिक या प्रवेष्टा थी। उनके अधीन जनपदों के शासक समाहर्ता कहलाते थे।

2. **प्रादेशिक**—प्रादेशिक का स्थान भी महत्वपूर्ण था। अशोक के शिला-लेखों से यह ज्ञात होता है कि ये प्रान्तीय शासन के प्रधान थे तथा वाइसराय के नीचे थे। डा० अल्तेकर के अनुसार प्रादेशिक कमिश्नरियों के मुख्याधीकारी थे। शिलालेख के 'प्रादेशिक' व अर्थशास्त्र के 'प्रदेष्टावार' एक ही श्रेणी के अधिकारी दीखते हैं। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख से मौर्यकालीन दो प्रान्तीय गवर्नरों के नाम प्राप्त होते हैं—(1) पुष्यगुप्त, जो चन्द्रगुप्त के समय में सौराष्ट्र का गवर्नर था तथा (2) तुषास्य जो अशोक के समय मे सौराष्ट्र का गवर्नर था। तुषास्य पासीक नाम है, अतः इससे ज्ञात होता है कि राजकर्मचारी की नियुक्ति में सम्राट् अशोक किसी प्रकार का जातीय या देशी-विदेशी भेद नहीं रखता था। यह उसकी धार्मिक सहि-ष्णुता का भी परिचायक है।

प्रादेशिक का उल्लेख तृतीय शिलालेख में भी है। कमिश्नरी के कर वसूलना विविध विभागों के कामों पर नियन्त्रण रखना, न्यायदान के विभाग पर निगरानी

करना, पांच-पाँच वर्षों पर दौरा करना, पूर्व नियोजित अन्य काम करना, धर्मानुशासन करना इत्यादि काम प्रादेशिक या प्रदेष्टा करते थे। उसकी सलाह के लिए एक कमेटी थी या नहीं, यह ज्ञात नहीं है।

3. **राजुक** :—चतुर्थस्तम्भलेख में राजुकों का उल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि कई हजार व्यक्तियों के ऊपर इनकी नियुक्ति की जाती है और इनका धर्म है कि दान और दण्ड स्वतन्त्र रूप से देते रहें। इस दृष्टिकोण से इन्हें राज्य का न्यायाधीश कहा जा सकता है। धर्म-प्रचार भी इनका कार्य था। प्रजा के कल्याण में वृद्धि के लिए राजुक राजा के प्रतिनिधि थे। जिस प्रकार कोई माता अच्छी धात्री को नियुक्त कर अपनी सन्तान के लिए निश्चिन्त हो जाती है, उसी प्रकार अशोक ने प्रजा के कल्याण के लिए राजुक नियुक्त किये थे। राजुकों को प्रजा की बातें समझनी चाहिए। और तदनुकूल कार्य करना चाहिए, ऐसा ही निर्देश उन्हें दिया गया था।

डा० स्मिथ के कथनानुसार राजुक भी गवर्नर होता था, किन्तु उसका पद कुमार से नीचा था। वेनीमाधव बरुआ के अनुसार राजुक केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि थे और उन्हें राज्य से जो आदेश मिलता था, उसे वे जनता तक पहुँचाते थे। कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों से उनका सम्बन्ध था। फौजदारी अपील सुनने का अधिकार उन्हें ही था और साथ ही वे विभिन्न विभागों की सहायता से राजस्व वसूल करते थे और जनहित में उसे खर्च करते थे। प्रान्तीय शासन, मुक्ति और विषय के शासन से भी उनका सम्बन्ध था। जायसवाल के अनुसार, राजुकों का सम्बन्ध गृह-विभाग और युद्ध-विभाग से था, हुल्ज के अनुसार दान और दण्ड से, भण्डारकर के अनुसार न्याय और दण्ड से, बुहलर के अनुसार भ्रमणशील कर्मचारियों से, रायचौधरी के अनुसार जमीन की पैमाइस करनेवाले अफसर से और कुछ विज्ञानों के अनुसार इनकी तुलना जातक कालीन रज्जुगाहक अमाच्च से की जा सकती है।

अशोक के शिलालेख में 'राजुक' का नाम मिलता है, पर वास्तविक तात्पर्य विवादास्पद है। डा० अल्तेकर के अनुसार राजुक का लाखो लोगों पर अधिकार था, अतः वे जिलाधिश से कम दरजे के नहीं थे। उनका सर्वप्रथम काम जमीन का कर वसूलना था, परन्तु वे न्यायदान का भी कार्य करते थे, जैसे कि कलक्टर अंग्रेजी-शासन-पद्धति में किया करते थे। कर वसूलना, रास्तों की मरम्मत करना, व्यापार के संवर्द्धन के लिए अनुकूल परिस्थिति बनाये रखना, बांध-नहर इत्यादि का प्रबन्ध करना रज्जुकों का कार्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक ने जब जन-कल्याण के लिए अपने साम्राज्य का विकेन्द्रीकरण किया, तब उसने अपने बहुत सारे अधिकार राजुकों के हाथ सौंप दिये। राजुक एक प्रमुख सरकारी अफसर थे, जिन्हें अपने क्षत्र में

'कार्यकारिणी और न्यायपालिका'[1] आदि से संबद्ध सभी प्रकार का कार्य करना पड़ता था।

4. **समाहर्ता** :—विभिन्न जनपदों में शासन का संचालन करनेवाला व्यक्ति समाहर्ता कहलाता था; किन्तु समस्त जनपदों का शासन का संचालन करनेवाले, माल विभाग के अध्यक्ष को भी समाहर्ता कहा जाता था। राजकीय करों को एकत्र करना इस विभाग का सर्वप्रधान कार्य था। कौटिल्य के अनुसार प्रान्तीय-प्रशासन का प्रधान समाहर्ता होता था, जिसके अधीन अपने प्रान्त के नई जिलों के स्थानिक कलक्टर होते थे।[2] राजस्व प्रशासन का प्रधान समाहर्ता होता था, जिसके अधीन स्थानिक रहते थे। समाहर्ता का काम निम्नलिखित स्रोतों से राजस्व वसूल करना था :—

दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, वन, व्रज, वणिकूपथ आदि। विविध प्रकार के स्रोतों से राजस्व जमा करने के लिए एक सुविस्तृत प्रशासन व्यवस्था की आवश्यकता था और उसमें सबसे बड़ा समाहर्ता था, जिसे हम राजस्व मंत्री भी कह सकते हैं।

समाहर्ता विभिन्न स्रोतों से राज्य का राजस्व जमा करता था और कोई बकाया नहीं रहने देता था। उसके कर्त्तव्यों की सूची में 'समुदायप्रस्थापनम्'[3] भी उल्लिखित है, जिसका अर्थ है कि उसे राजस्व बढ़ाने का उपाय करना चाहिए तथा उसके संबंध में साधन भी मालूम करना चाहिए। समाहर्ता को नयी योजनाएँ चालू करने और राजस्व में वृद्धि के लिए नए कर लगाने का अधिकार था। समाहर्ता को 2000 पण मासिक वेतन मिलता था। समाहर्ता के अधीन अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अपने-अपने विभाग के राजकीय करों को एकत्रित करते थे, एवं व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन करते थे।

---

1. U. N. Ghoshal : "They were the imperical agents who received express directions for carrying out and broadcasting the emperors orders, that they combined the highest executive and judicial functions.....and that their main function was the collection and utilisation of revenue through various departments".....

2. कौ० अर्थ०।, 1

3. समुदयो धनोत्थानं तस्य प्रस्थापनं मार्गपरिकल्पनं समाहर्ता क्या क्या विधया समुदयं प्रस्थापयेत इत्येतत्।

कौ० अर्थ०।, 1

ऐसे कुछ अध्यक्ष निम्नलिखित थे :—

शुल्काध्यक्ष, पौतवाध्यक्ष, मानाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, विविताध्यक्ष, नौ-अध्यक्ष, गौ-अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, हस्त्यध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, आकराध्यक्ष, देवताध्यक्ष, सौवर्णिक, ये बीस अध्यक्ष समाहर्ता के अधीन थे जिनके कार्यों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। समाहर्ता राज्य का बहुत ही महत्वपूर्ण अधिकारी होता था और जनपदों के शासन का संचालन बहुत कुछ उसी के हाथ में रहता था।

5. **सन्निधाता** :—राजकीय कोष का विभाग सन्निधाता के हाथ में रहता था। राजकीय आय और व्यय का हिसाब रखना और उसके सम्बन्ध में नीति का निर्धारण करना सन्निधाता का कार्य था। समाहर्ता का पूरक अधिकारी सन्निधाता होता था, जो राजकोष की जिम्मेदारी संभालता था। समाहर्त्ता पैसा इकट्ठा और खर्च करनेवाला अधिकारी होता था और सन्निधाता पैसा बचाने और राजस्व जमा करनेवाला। उसके अधिन अनेक उपविभाग थे—

1. **कोषगृह**—इसमें बहुमूल्य रत्न आदि जमा किये जाते थे। इसके अध्यक्ष को कोषाध्यक्ष कहते थे।

2. **पण्यगृह**—इसमें राजकीय पण्य (विक्रय पदार्थ) एकत्र किये जाते थे। राज्य की ओर से जिन व्यवसायों का संचालन होता था, उनसे तैयार किये गये पदार्थ सन्निधाता के अधीन पण्यगृह में भेज दिये जाते थे।[1]

3. **कोष्ठागार**—इसके अन्तर्गत वे पदार्थ संग्रहीत किये जाते थे, जिनका राज्य को आवश्यकता रहती थी।

4. **कुप्यगृह**—वन सम्पदा जमा करने का स्थान।[2]

5. **आयुधागार**—अस्त्रशाला।[3]

सन्निधाता विश्वासपात्र कर्मचारियों की सहायता से राज्य के राजस्व के सम्बन्ध में अपना दायित्व का निर्वाह करता था। राजकोष में कितना राजस्व बचा है, इसका ज्ञान उसे बराबर अपेक्षित था।

6. **युक्त (युत्त)**—साधारण अर्थ में सहयोगी—अशोक के लेख में 'युक्त' धर्ममहामात्र के अधीनस्थ कर्मचारी कहा गया है। सलीमपुर ताम्रपत्र में 'पुक्तक' शब्द उसी अर्थ में प्रयुक्त है। युक्त आर्थिक व्यवस्था के प्रधान अधिकारी होते थे।

1. कौ० अर्थ० 2-16
2. कौ० अर्थ० 2-17
3. कौ० अर्थ० 2-18

एक विषय (जिला) के राजस्व-अधिकारी को युक्त कहते थे। जिला-कोष की देख-रेख, राजकीय सम्पत्ति का निरीक्षण, मालगुजारी वसूलना, तथा खर्च करना एवं लेखा-जोखा करना आदि इनका प्रमुख कार्य था। मनु ने भी अपनी 'स्मृति' में इस पदाधिकारी का उल्लेख किया है और उसका कर्त्तव्य खोई हुई वस्तुओं की पुनर्प्राप्ति के पश्चात् रक्षा करना बतलाया है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में 'युक्त' का उल्लेख करते हुए उसे राजसम्पत्ति का प्रबन्धक बतलाया है।

कुछ लोग युक्त को राजुक और प्रादेशिक के अधीन कर्मचारी मानते हैं। हुल्ज के अनुसार युक्त लोग महामात्र के सेक्रेटरी के रूप में काम करते थे तथा महामात्र के कार्यालय में राज्य-शासन को लिपिबद्ध करते थे। राजुक और प्रादेशिक जब दौरे पर जाते थे, तब ये लोग भी उनके साथ चलते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि 'युक्त' न्यून अधिकारी थे, जो विषय (जिला) में राजस्व और अमन-चैन की देख-रेख में लगे रहते थे।

7. **स्थानिक**—कौटिल्य के अनुसार 'स्थानिक' जिले का कलक्टर होता था,[1] जिसपर उस जिले की पूरी व्यवस्था का भार होता था। कौटिल्य ने राजधानी के मुख्य चार भाग किये हैं, जिनमें प्रत्येक पर एक राज कर्मचारी रहता था, जो कि स्थानिक कहलाता था। अतः राजधानी में चार स्थानिक होते थे। नागरिक के जो कर्त्तव्य नगर के प्रति होते थे वही कर्त्तव्य स्थानिक के नगर के चौथाई भाग के प्रति होते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार दो सौ गांवों के बीच उनका शासन करने के लिए एक केन्द्र अपेक्षित था, जिसे आचार्य ने खार्वटिक नाम से सम्बोधित किया है। इसके ऊपर चार सौ गांवों के केन्द्र को द्रोणमुख कहा गया। आठ सौ गांवों के शासन केन्द्र को कौटिल्य ने स्थानीय नाम से सम्बोधित किया है। इसका सबसे बड़ा अधिकारी स्थानिक कहलाता था, जो कि स्थानीय की देख-रेख करता था। स्थानिक को वसूली, शासकीय और न्यायविषयक अधिकार थे।

8. **गोप**—केन्द्रीय सरकार की ओर से ग्रामशासन के लिए जो कर्मचारी नियुक्त होता था, उसे गोप कहते थे।[2] अभिलेखों में इसे ग्राम का लेखा रखनेवाला बताया गया है। यह ग्रामपति की सहायता किया करता था। ग्राम के शासन में गोप की वही स्थिति थी, जो नगर के शासन में नागरक की। स्थानिक के अधिन गोप नामक कर्मचारी होते थे। स्थानिक प्रायः नगर के चौथे भाग का शासक होता

---

1. कौ० अर्थ०।, 1
2. कौ० अर्थ० 2-35.

था और गोप दस, बीस या चालीस परिवारों के छोटे उपविभाग का।[1] केन्द्रीय सरकार की ओर से गोप के मुख्य कार्य निम्नलिखित थे:—

ग्रामों की सीमाओं को निर्धारित करना, जनगणना करना और भूमि का विभाग करना।

मैगास्थनीज द्वारा वर्णित जिले के अधिकारी (एग्रोनोमोई) :—इनमें से पहले प्रको के अधिकारियों के निम्न कार्य थे :—

(1) सिंचाई तथा भूमि की पैमाइश का निरीक्षण करना,

(2) शिकार का निरीक्षण करना,

(3) कृषि तथा वन-सम्पदा से सम्बन्धित विभिन्न उद्योगों और लकड़ी के काम, धातु की ढलाई के कारखानों तथा खानों का निरीक्षण करना, और

(4) सड़कों की देखभाल करना तथा उनकी मरम्मत कराना और इस बात का प्रबन्ध करना कि हर दस स्टेडिया[2] ($1\frac{1}{4}$ मील) पर दूरी को इंगित करनेवाला पत्थर लगवाया जाए।"

इससे सिद्ध होता है कि मेगास्थनीज का मत यह नहीं था कि भारत में लोग लिखने की कला से आम तौर पर अपरिचित थे।

नगर के अधिकारी (एस्टिनोमोई) :—दूसरे प्रकार के अधिकारी, अर्थात् नगर के अधिकारी, पांच-पांच सदस्यों के 6 मण्डलों में विभाजित थे। इनके काम क्रमशः निम्नलिखित थे :—

(1) कारखानों का निरीक्षण, (2) विदेश से आनेवालों की देखभाल, जिसमें सरायों पर पूर्ण नियन्त्रण, सहायक अधिकारियों की व्यवस्था, रोगियों की देखभाल तथा मृत लोगों की अन्तिम क्रिया शामिल थी; (3) जन्म तथा मृत्यु का हिसाब रखना, (4) बाजार पर नियन्त्रण रखना, (5) नाप तथा तौल का निरीक्षण, तैयार माल का निरीक्षण, नयी तथा पुरानी वस्तुओं को अलग-अलग बिक्री का प्रबन्ध और (6) माल की बिक्री पर 10 प्रतिशत कर वसूल करना।

---

1. "समाहृतं दन्नागरको नगरं चिन्तयेत्। दशमुलीं गोपो,
विंशतिमुलीं चत्वारिंशत्मुलीं वा।.....
एव दुर्गं चतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत्।" कौ० अर्थ० 2-36

2. 1 योजन = 8 मील, 10 स्टेडिया = 2022½ गज = योजन का छठा भाग = $1\frac{1}{4}$ (रीज डेविड्स, बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० 265; कैम्ब्रिज हिस्ट्री, I; 185)। मैकक्रिंडल ने 10 स्टेडिया को एक भारतीय क्रोश अर्थात् कोस के बराबर माना है।—Mecrindle-Ancient India

"ये 6 मण्डल सामूहिक रूप से जन-निर्माण-कार्यों, कीमतों, बन्दरगाहों तथा मंदिरों की देखभाल करते थे।"

जिले के अधिकारियों अर्थात् एग्रोनोमोई के सम्बन्ध में, जिनमें से अधिकांश शासन केन्द्र में काम करने वाले समाहर्ता के नियंत्रण में रहते थे, कौटिल्य और मेगास्थनिज के विचारों में हम एकरूपता पाते हैं।

कौटिल्य तथा मेगास्थनीज के विचारों की एकरूपता : मेगास्थनीज ने बताया है कि उनके पहले काम का सम्बन्ध सिंचाई तथा जमीन की पैमाइस से था। अर्थ-शास्त्र में सिंचाई के समाहर्ता के कर्तव्यों में से एक बताया गया है। इसका संकेत नदीपाल, तट, नाव, सेतु तथा सीता आदि अनेक शब्दों में मिलता है। इस बात का भी उल्लेख है कि समाहर्ता प्रधान नियंत्रक अधिकारी होता था, किन्तु उसके अधीन जिलों में अनेक छोटे-छोटे विभागीय अध्यक्ष होते थे, जिनमें से एक महत्वपूर्ण सीताध्यक्ष (कृषिनिर्देशक) होता था, जिसके जिम्मे सिंचाई की व्यवस्था करना एवं सिंचाई का कर वसूल करने का काम होता था। सिंचाई के साधनों के अनुसार सिंचाई-कर की दर बदलती रहती थी।

मेगास्थनीज ने उन अधिकारियों का भी उल्लेख किया है, जो नदियों पर निगरानी रखते थे, भूमि की पैमाइश करते थे और उन जल द्वारों का निरीक्षण करते थे, जिनके रास्ते बड़ी नहर में से उसकी शाखाओं में पानी पहुँचाया जाता था, ताकि सबको बराबर-बराबर पानी मिल सके। अतः कौटिल्य ने नदियों पर निगरानी रखनेवाले अधिकारी को नदीपाल का बहुत ही उपयुक्त नाम दिया है। सीताध्यक्ष के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि वह नदी, झील, जलाशय तथा कुओं से जलद्वारों के नियमन द्वारा पानी के समुचित वितरण की व्यवस्था करता था।[1]

यदि कोई निश्चित क्रम के विपरीत (अवोट) पानी देता या प्राप्त करता था, अथवा जिस खेत की बारी होती थी (वाटे), उसमें पानी पहुँचने से रोकता तो यह अपराध होता और इसके लिए दण्ड दिया जा सकता था।[2] इससे मालूम पड़ता है कि (क) उपभोक्ताओं अर्थात् काश्तकारों के बीच नहर के पानी का वितरण वारी-वारी से किया जाता था और (ख) यह वितरण जल-द्वार की क्रिया द्वारा किया जाता था। जिन खेतों में नहर के पानी से सिंचाई होती थी, उन्हें कुल्थावाय कहा गया है।[3] सिंचाई की एक ऐसी व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है, जिसे स्त्रोतोयंत्र

1. उद्घाटं उद्घाट्यते निस्सार्यते जलं अनेनति उद्घाटो उद्घटकादि-यंत्रम्, कौ० अर्थ० II, 24
2. कौ० अर्थ० III, 9
3. कौ० अर्थ० I,24

प्रावर्तितम कहा गया है, जिसका अर्थ उस व्यवस्था अथवा यंत्र से हैं, जिसके द्वारा सिंचाई-अधिकारी बहती हुई जल-धाराओं से पानी लाकर खेतों में पहुँचाता था। मेगास्थनीज के इस कथन के सम्बन्ध में कि जल का वितरण ऐसा होना चाहिए कि "सबको बराबर-बराबर पानी मिल सके" यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि कौटिल्य ने सिंचाई का पानी सबको बराबर-बराबर मिलने की व्यवस्था सुनिश्चित कर दी थी। सबसे समान दर से कर वसूल किया जाता था और जो भी अपनी सिंचाई की आवश्यकता के लिए जितना पानी लेता था, उसके लिए उसे समान रूप से पैसा देना पड़ता था। विभिन्न स्तरों पर स्थित विभिन्न खेतों (केदार) के बीच पानी के वितरण के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाले झगड़ों का निर्णय भी सिंचाई कार्यालय करता था। यदि बाद में निचले स्तर पर कोई जलाशय बनाया जाता था, तो उसे इस प्रकार बनाना पड़ता था कि उसका जल पहले से ऊंचे स्तर पर बने हुए जलाशय द्वारा सींचे जाने वाले खेत में न जाने पाये। ऊंचे स्तर पर बनाये गये तालाब से नीचे स्तर पर बने हुए पुराने तालाब में पानी के बहाव को रोकने की भी अनुमति नहीं थी, ऐसा केवल उसी दशा में किया जा सकता था, जब वह पानी सिंचाई के लिए आवश्यक न हो।[1]

पैमाइश—खेती की जमीन रज्जु के पैमाने से नापी जाती थी (1 रज्जु—10 दण्ड—40 हाथ, 1 हाथ—54 अंगुल होता था) अलग-अलग प्रकार की जमीनों के लिए अलग-अलग मापदण्ड प्रयोग में आते थे। जैसे, सैनिक पड़ाव की भूमि, इमारती लकड़ी के जंगल सड़कें तथा कुएं, माफी की जमीन, जिसका लगान नहीं लिया जाता था इत्यादि के लिए भिन्न-भिन्न मापदण्ड प्रचलित थे। पैमाइश तथा बन्दोबस्त का खर्च जमीन के मालिक से लिया जाता था, जिसे इससे लाभ होता था।

बन्दोबस्त—जमींदार के रूप में राज्य के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में कुछ मनोरंजक आदेश दिये गये हैं। सर्वप्रथम ऐसे गावों की स्थापना की जाती थी, जिनमें कम-से-कम 100 और अधिक-से-अधिक 500 परिवार हों। राज्य दूसरे प्रदेशों के लोगों की सहायता देकर इन गावों में लाकर बसाता था या वह स्वयं अपने देश के अधिक घने बसे हुए इलाकों के लोगों को इन क्षेत्रों में लाकर बसा देता था।

दो ग्रामों के बीच में कोई सुनिश्चित सीमा-रेखा होती थी, जैसे, नदी, पहाड़ी, जंगल, झाड़ियां घाटी, तटबंध और बट-वृक्ष। यह भी आदेश था कि गांव एक-दूसरे से बहुत दूर न हों। उन्हें एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक एक या दो क्रोश (कोस) दूर होना चाहिए, जिससे कि संकट पड़ने पर वे एक दूसरे की रक्षा कर सकें।[2]

---

1. कौ० अर्थ ।।।, 9
2. कौ० अर्थ ।।, 1

शिकार--मेगास्थनीज ने इसके बाद जिले के अधिकारियों के दायित्वों की जिस श्रेणी का उल्लेख किया है, उसका सम्बन्ध शिकार पर निगरानी रखने से है। इन दायित्वों के प्रसंग में कौटिल्य ने कुप्याध्यक्ष नामक एक अधिकारी के अधीन एक नियमित वन-विभाग का उल्लेख किया है। इस अधिकारी का काम था कि वह वनों के ऐसे रक्षक (वनपाल) नियुक्त करे, जो हर पेड़ के बारे में छोटी-से-छोटी बात से परिचित हों और वन में पैदा होनेवाली विभिन्न वस्तुएँ जमा कर सकें, वनों तथा उनकी सम्पदा के संरक्षण की व्यस्वथा कर सकें। कुप्याध्यक्ष के साथ विवीताध्यक्ष नामक एक और अधिकारी होता था, जिसका काम मवेशियों की चारागाहों को वन्य पशुओं के अतिक्रमण से सुरक्षित रखना था। उसे हम इस काम के लिए बहुत-से शिकारियों (लुब्धक) को नौकर रखना पड़ता था, जो अपने शिकारी कुत्तों द्वारा (श्वगण) जंगलों की सभी प्रकार के हानिकारक तत्वों से रक्षा करते थे।

मेगास्थनीज तथा कौटिल्य दोनों में मतैक्य था कि शिकार मुख्यतः राजा का मनोरंजन था। कौटिल्य शिकार को राजा के लिए एक स्वास्थ्यप्रद तथा हितकर क्रीड़ा समझता था, किन्तु उसने इसके साथ ही यह शर्त लगा दी थी, कि राजा की सुरक्षा के लिए ऐसे शिकारी (लुब्धक) भी साथ रखे जायें, जो राजा की श्वानशाला के शिकारी कुत्तों की सहायता से जंगलों को शेर आदि हिंसक पशुओं से मुक्त रखें, ताकि राजा सुरक्षित वातावरण में भागते हुए मृग जैसे गतिवान लक्ष्य पर निशाना लगाने की दुःसाध्य कला सीख सके।

यातायात और पथ-व्यवस्था के प्रश्न पर भी कौटिल्य और मेगास्थनीज में काफी मतैक्य है। कौटिल्य में राजमार्ग,[1] वणिक-पथ, इत्यादि का उल्लेख है और मेगास्थनीज ने भी सड़कों की देखभाल के लिए अफसरों का उल्लेख किया है। सभी प्रश्नों पर कौटिल्य और मेगास्थनीज में बहुत हद तक एकरूपता है।

जिला-शासन का स्थानीय शासन के साथ सम्पर्क :—मौर्यकाल में जिला तथा स्थानीय शासन के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्थानीय शासन के अंतर्गत ग्राम शासन एवं नगर-शासन इत्यादि आते थे। मौर्यकाल में जिला (विषय) शासन की कील होता था, जो केन्द्र और प्रान्त से आदेश लेता था तथा उसे अपने नीचे ग्राम एवं नगर में लागू करता था। अर्थशास्त्र में वर्णित द्रोणमुख (400 गांव) और खार्वटिक (200 गांव) का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये जिला शासन (विषय) के अंतर्गत आते थे। स्थानीय शासन की देखरेख के लिए केन्द्र की ओर से नागरक, स्थानिक और गोप नियुक्त किये जाते थे। इनके ऊपर जनपदों के शासन शासक समाहर्त्ता कहलाते थे।

1. अर्थ०।, 29-8

ग्राम-शासन :—शासन की दृष्टि से प्रत्येक ग्राम अपनी पृथक् और स्वतंत्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में ग्राम-शासन-पद्धति का विशेष रूप से विश्लेषण हुआ है। अनेक ग्राम मिलकर एक जनपद का निर्माण करते थे। प्रत्येक ग्राम का शासक पृथक्-पृथक् होता था और वह ग्रामिक कहलाता था। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिलकर अपराधियों को दण्ड देता था और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था।[1] अर्थशास्त्र में 'ग्रामिक' का उल्लेख आया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह अधिकारी राज्य की ओर से नियुक्त किया जाता था या ग्रामवासी इसे निर्वाचित करते थे।

ग्रामिक का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता था, क्योंकि कौटिल्य ने कहा है कि यदि ग्रामिक गांव के बाहर किसी कार्य के निमित जाय तो गांव के मुख्य व्यक्तियों को उसके साथ जाना चाहिए। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा किये जाते थे, वे इसी निधि में जमा होते थे।[2] ग्राम की ओर सार्वजनिक हित के अनेक कार्यों की व्यवस्था होती थी। लोगों के मनोरंजन के लिए प्रेक्षाओं (तमाशों) की व्यवस्था की जाती थी, जिनमें सब ग्रामवासियों को हिस्सा बंटाना होता था।[3] जो लोग अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य की उपेक्षा करते थे, उनपर जुर्माना किया जाता था।[4] उस समय ग्राम का एक पृथक् संगठन विराजमान था। ग्राम संस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्राम सभाओं में बनाये गये नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। अक्षपठलाध्यक्ष के कामों में एक यह भी था कि वह ग्रामसंघ के धर्म, व्यवहार, चरित्र, संस्थान आदि को निबन्धित करे।[5]

---

1. "ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तं उपवासाः पर्याणनुगच्छेयुरननुगच्छन्तः पर्णार्धं पणिकं योजनं दद्युः।
ग्रामकस्य ग्रामादस्तेनपारदारं निरस्यतश्चतुर्विंशतिपणे दण्डः।"
को० अर्थ० 3-10

2. "कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्याकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्।"
को० अर्थ० 3-10

3. प्रेक्षायामनंशदः स्वस्वजना न प्रेक्षेत। प्रच्छन्नथवणेद्यणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात्।"
को० अर्थ० 3-10

4. "सर्वहितमेस्य वुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वावशपणे दण्डः
तं चेत्सम्भूय वा हन्युः, पृथगेषाक्षपराधद्विगुणो दण्डः।"

5. "देशग्रामजातिकुलसंघानां धर्मव्यवहार चरित्रसंथानं,
निबन्ध पुस्तकर्स्थं कारयेत्।"
को० अर्थ० 2-7

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि मौर्यसाम्राज्य के ग्रामों में स्वायत संस्थाओं की सत्ता थी। इस संस्था को ग्राम-संघ कहते थे और इसी के धर्म, व्यवहार और चरित्र आदि को अक्षपटलाध्यक्ष द्वारा निबन्धपुस्तकस्थ किया जाता था। इस ग्राम-संघ के सदस्यों को 'ग्रामवृद्ध' कहा जाता था।[1] ग्राम के निवासी सब कुलों और परिवारों के मुखियाओं (वृद्धों) द्वारा ही ग्राम-संघ का निर्माण होता था। ग्रामवृद्ध अपराधियों को दण्ड देते थे, उनसे जुर्माना वसूल करते थे, ग्रामविषयक सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन करते थे, ग्राम की शोभा कायम रखते थे[2] और मनोरंजन की व्यवस्था करते थे। नाबालिगों की सम्पत्ति के प्रबन्ध का भार इन्हीं के ऊपर था। ये लोग ग्राम के मन्दिरों और देव स्थानों का भी प्रबन्ध[3] और अपने क्षेत्र में सड़क और पुल आदि बनवाने का भी कार्य करते थे।[4] केन्द्रीय सरकार की ओर से ग्राम-शासन के लिए एक कर्मचारी नियत किया जाता था, जिसे गोप कहते थे।[5] ग्राम-शासन में गोप का वही स्थान होता था, जो नगरशासक में नागरक का। केन्द्रीय सरकार की ओर से गोप के निम्नलिखित मुख्य कार्य थे—ग्रामों की सीमाएं निर्धारित करना, जनगणना करना और भूमि का विभाग करना। गोप के होने के बावजूद ग्रामिक और ग्रामसंघ का विशेष महत्व था।

दो गांवों के बीच कोई सुनिश्चित सीमा-रेखा होती थी, जैसे—नदी, पहाड़ी, जंगल, झाड़ियां, घाटी, तटबंध और शाल्मली, शमी या वट के वृक्ष। यह भी आदेश था कि गांव एक-दूसरे से बहुत दूर न हों। उन्हें एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक एक या दो कोस (क्रोश) दूर होना चाहिए, ताकि समय पड़ने पर वे एक-दूसरे की रक्षा कर सकें।[6] गांवों के सामूहिक जीवन को प्रोत्साहित करने के लिए 10-10 गांवों को एक ही प्रशासन के रूप में संगठित कर दिया जाता था, जिसे संग्रहण कहते थे।

---

1. कौ० अर्थ० 2-1
2. "ग्रामशोभाश्च रक्षा च तेषां प्रियहितं चरेत्।"
   कौ० अर्थ० 3-10
3. "बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेपुराव्यवहार प्रापणात्।
   देवद्रव्यं च।"
   कौ० अर्थ० 2-1
4. "राजा देशहितान् सेतुन् कुर्वतां पथि संक्रात।"
   कौ० अर्थ० 3-10
5. कौ० अर्थ० 2-35
6. कौ० अर्थ० II, 1

200-200 गांव के सामूहिक प्रशासन वाले गांव को खार्वटिक और 400-400 गांवों के सामूहिक प्रशासन केन्द्र को द्रोणमुख कहते थे। इस प्रकार अन्त में 800 गांवों का संघ बन जाता था, जिसे माहाग्राम कहते थे। इसके प्रशासन-केन्द्र को स्थानीय कहते थे, जो संस्कृति, वाणिज्य, व्यापार तथा जीविकोपार्जन के साधनों का केन्द्र होता था, जहाँ उस पूरे इलाके के ग्रामवासी एकत्र होकर सामूहिक जीवन का निर्माण करते थे।[1] जिन लोगों की सेवाओं की गांव को जरूरत होती थी उन्हें राज्य की ओर से लगान रहित भूमि दी जाति थी। इस प्रकार के लोगों में इनकी गणना की जाती थी —(क) जो लोग धार्मिक संस्कार सम्पन्न कराते थे, (ख) अध्यापक, (ग) पुरोहित तथा (घ) विद्वान्।[2]

गांव की तरफ से वेतन देकर भी कुछ कर्मचारी रखे जाते थे और उन्हें ग्राम-भृतक कहा जाता था। स्थानीय व्यापारी को वैदेहक कहा जाता था। प्रत्येक गांव में चारागाह, पूजा-पाठ, शिकार आदि के लिए जमीनें रखी जाती थीं।[3] गांव में उद्योग की समुचित व्यवस्था की जाती थी छौर व्यापार की प्रगति के लिए यातायात की सुविधा भी प्रदान की जाती थी। गांव में सहकारी योजना और सहयोग समिति का प्रबन्ध होता था और इसे राज्य की ओर प्रोत्साहित किया जाता था। ग्रामनियमों का उल्लंघन दण्डनीय माना जाता था। गलत कार्य करने पर ग्रामिक को भी दण्ड का भोगी होना पड़ता था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस बात का उल्लेख किया है कि यदि कोई ग्रामिक अपने अधीन गांव से चोर अथवा व्यभिचारी के अलावा किसी अन्य भले मनुष्य को बाहर निकाल दे, तो उस ग्रामिक को 24 पण दण्ड दिया जाना चाहिए। प्रत्येक गांव का पूरा-पूरा ब्योरा तैयार किया जाता था और इस आधार पर गांवों को अलग-अलग श्रेणियों में बाँटा जाता था। प्रत्येक गांव की परिस्थितियों का सर्वेक्षण किया जाता था। ग्राम-वृद्ध छोटे-छोटे विवदों का निपटारा करते थे और बड़े झगड़ों का फैसला एक न्यायालय करता था, जिसमें तीन सरकारी अधिकारी और तीन गैरसरकारी पंच होते थे।

नगर-शासन :—स्थानीय शासन के अन्तर्गत तत्कालीन नगरशासन का बड़ा महत्व था। नगर-शासन का पूरा विवरण हमें ऐतिहासिक काल में मिलता है। मौर्य-काल में नगरों में स्थानीय स्वशासन का प्रमाण हमें मेगास्थनीज से प्राप्त होता है। मेगास्थनीज ने लिखा है कि "ये कार्य हैं, जो उपसमितियाँ पृथक्-पृथक् रूप से करती है। परन्तु सामूहिक रूप से जहाँ उपसमितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों का

1. कौ० अर्थ०, II,1
2. कौ० अर्थ० II,1
3. कौ० अर्थ० II, 2

ख्याल करना होता है, वहां वे सब मिलकर सार्वजनिक या सर्वसाधारण के हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं; यथा—सार्वजनिक इमारयों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्त का ख्याल रखना, कीमतों को नियंत्रित करना, बाजार, बन्दरगाह और मन्दिरों पर ध्यान देना।"[1] कौटिल्य के अनुसार " समाहर्तृव-नागरको नगरं चिन्तयेत्।" कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' के अनुसार नगर के शासक को 'नागरक' कहते थे। नगर के शासन में इसकी वही स्थिति थी, जो कि जनपद के शासन में समाहर्ता की थी। शासन की सुविधा के लिए नगर को भी अनेक उप-विभागों में विभक्त किया जाता था। मेगास्थनीज के अनुसार पाटलीपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। संभवतः यही प्राचीन पौर सभा थी। इस प्रकार की पौर सभाएँ तक्षशिला, उज्जयिनी आदि अन्य नगरियों में विराजमान थी। उत्तरापथ के विद्रोह को शान्त करने के लिए कुमार कुणाल तक्षशिला गया था तो वहां के पौर ने उसका स्वागत किया था।

मैगास्थनीज ने विवरण से पाटलीपुत्र के स्वायत्त-शासन का संकेत मिलता है। नागरक अपने पौत्र के स्वशासन के लिए उत्तरदायी होता था। नागरक का परिचय अर्थशास्त्र के नागरक प्रणिधिः प्रकरण में मिलता है, जिसमें नागरक के निम्नलिखित कार्य बताये गये हैं—नगर की सफाई, अपरिचित यात्रियों पर नियन्त्रण, अग्नि से मकानों की रक्षा, भोजन की शुद्ध रूप में प्राप्ति आदि। नगर शासन प्रणाली पौर-जीवन की विशिष्ट समस्याओं तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की जाती थी।[2] नागरक को पुरमुख्य भी कहते थे।[3] नागरक एक शासनाधिकारी की हैसियत से समाहर्ता के अधीन होता था। प्रान्त की भाँति नगर को भी चार भागों अथवा मण्डलों में विभाजित कर दिया जाता था और इनमें से प्रत्येक भाग स्थानिक नामक एक पदाधिकारी के अधीन कर दिया जाता था। स्थानिक अपने अधीन काम करनेवाले अनेक पदाधिकारियों पर नियन्त्रण रखता था, जिन्हें गोप कहते थे। गोप दस, बीस या चालीस परिवारों की देखरेख करते थे। नगर की सफाई के नियम बड़ी कठोरता के साथ लागू किये जाते थे। सड़कों एवं पवित्र स्थानों को साफ रखा जाता था। नागरिक नियमों को भंग करनेवालों के लिए सजा की व्यवस्था थी। प्रत्येक घर में शौचालय (अवस्कर), नाली (भ्रम), तथा कुएँ (उद्यान) का होना आवश्यक था। भवन-निर्माण-सम्बन्धी नियम भी लागू थे।

---

1. Mccrindle : fragm. XXXIV.
2. कौ० अर्थ० ॥, 36
3. कौ० अर्थ० ॥, 16

'नागरक' के निम्नलिखित कर्त्तव्य बताये गये हैं, जिन्हें उसे प्रतिदिन पूरा करना पड़ता था—

(1) नगर की जल व्यवस्था (उदकस्थान) की देख-रेख,
(2) नगर की सड़कों (मार्ग) के दशा-सुधार का प्रबन्ध,
(3) मैदान (भ्रमयः) की सफाई का इन्तजाम,
(4) नगर की प्रतिरक्षा के संबद्ध बातों पर ध्यान रखना,
(5) जनस्वास्थ्य पर ध्यान रखना,
(6) खाद्य सामग्री आदि को मिलावट से बचाना, और
(7) नैतिक आचरण पर नियन्त्रण रखने का प्रबन्ध करना।[1]

मेगास्थनीज ने लिखा है—"भारत में नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि वह ठीक-ठीक नहीं बताई जा सकती।" नगर नदियों के किनारे, समुद्र-तट और अन्य स्थानों पर बसे हुए हैं। नगरपालिकाओं द्वारा साधारण नगरवासियों को सुखी जीवन व्यतीत करने के लिए सुविधाएं प्रदान की जाती थीं। इस प्रकार के नियम बनाये गये थे, कि पड़ोसियों को किसी प्रकार की असुविधा न होने पाये। किसी घर में ऐसी खिड़की, जो दूसरे के घर की खिड़की के सामने खुलती हो, उस समय तक नहीं बनायी जा सकती थी। जबतक बीच में कोई सड़क न हो। आग बुझाने के लिए यंत्रीकृत व्यवस्था के बजाय सड़कों पर हर समय पानी से भरे बरतन रखे रहते थे। सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए यह व्यवस्था भी थी कि रात को एक निश्चित अवधि में कोई अपने घर से बाहर नहीं निकल सकता था।

नगरपालिका के प्रधान को सभी घटनाओं की सूचना देनी पड़ती थी और उसे खोई हुई अथवा लावारिस सम्पत्ति अपनी निगरानी में ले लेनी पड़ती थी। नगर-पालिका की ओर से मंदिरालय, देवालय, सार्वजनिक स्थान, आमोद-प्रमोद के स्थान और सराय आदि पर नियन्त्रण रखा जाता था। नगरपालिका को ही नवागन्तुक की सूचना देनी पड़ती थी। इस सम्बन्ध में कौटिल्य और मेगास्थनीज के विचार एक-दूसरे के पूरक हैं।

मेगास्थनीज ने अस्तोनोमोइ (एस्टिनोमोई) नामक नगर-अधिकारियों का उल्लेख किया है, जिनके दायित्वों का वर्णन कौटिल्य ने विस्तारपूर्वक किया है। नगर-उद्योग का विवरण कौटिल्य में स्पष्ट है। मेगास्थनीज के अनुसार नगरों की फैक्टरियों पर सरकारी निगरानी रहती थी। कौटिल्य के अनुसार इस निगरानी के

---

1. कौ० अर्थ० II, 27.

लिए सरकारी अध्यक्ष रहते थे; जैसे—सूत्राध्यक्ष, सौवर्णिक, लक्षणाध्यक्ष, लौहाध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष इत्यादि। मेगास्थनीज ने नगर-अधिकारियों के एक ऐसे वर्ग का उल्लेख किया है, जिसके काम में चिकित्सालय का नियन्त्रण, बाहर से आनेवालों की देखभाल तथा उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करना भी शामिल था। मेगास्थनीज ने जिस तीसरी श्रेणी का उल्लेख किया है, उसके अधिकारियों का सम्बन्ध मृत्यु तथा जन्म का हिसाब रखने से है। कौटिल्य में स्थानिक एवं गोप यही काम करते थे। बाजार का नियन्त्रण कौटिल्य और मेगास्थनीज दोनों में मिलता है। माप-तौल, तैयार माल का निरीक्षण, खाद्य-सामग्री और आयात-निर्यात पर नियन्त्रण रखने की व्यवस्था दोनों में ही है। इन विवरणों से पता चलता है कि कौटिल्य ने नगर प्रशासन-संबंधी जितनी बातों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, वे मेगास्थनीज के वर्णनों से पूरी तरह मेल खाती है।

मेगास्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगर-शासन का विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगर-सभा 7 उप-समितियों में विभक्त थी और प्रत्येक उप-समिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उप-समितियों के अधिकार तथा कार्य निम्नलिखित थे :—

पहली उप-समिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-संबंधी कार्यों का निरीक्षण करना था। यह उप-समिति कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों का पारिश्रमिक भी निर्धारित करती थी। औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा के लिए यह उप-समिति उत्तरदायी थी; किन्तु साथ ही उनके उत्पादन की शुद्धता पर भी कठोर दृष्टि रखती थी। शिल्पियों का समाज में बड़ा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था।

दूसरी उप-समिति का काम विदेशी यात्रियों की गतिविधि का निरीक्षण और उनकी आवश्यकताओं पर ध्यान रखना था। उनके निवास और भोजन औषधादि की व्यवस्था यही उप-समिति करती थी। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र में मृत्यु हो जाय, तो उसके देश की प्रथा के अनुसार उसे यहाँ दफनाया भी जाता था। मृत परदेशी की सम्पत्ति का प्रबन्ध इसी समिति के अधिन था।

मेगास्थनीज के इस विवरण से यह परिलक्षित होता है कि मौर्य साम्राज्य में, विशेषकर पाटलिपुत्र में, विदेशियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके लिए पृथक् विभाग की स्थापना करनी पड़ी थी। विदेशियों की उपस्थित तकत्तालीन भारत के सामाजिक जीवन पर निश्चय ही प्रभाव डालती रही होगी। इस प्रकार इसका विशेष सांस्कृतिक महत्व है, क्योंकि चौथी शताब्दी ई० पूर्व के विश्व-इतिहास के

अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय लगभग सभी देशों में छठी शताब्दी ई० पूर्व में उदित धार्मिक एवं बौद्धिक क्रांति के परिणामस्वरूप जन-साधारण नयी चेतना नव-जागरण का प्रस्फुटन हो रहा था।

तीसरी उप-समिति का काम मर्दुमशुमारी करना था। यह समिति जन्म-मरण का लेखा-जोखा रखती थी। इसका अभिप्राय केवल जन-संख्या की गणना करना ही न था या इसके आधार पर केवल राज-कर ही नहीं लगाना था, अपितु जन्म-मरण की रजिस्ट्री के आधार पर सरकार को नागरिकों के जन्म-मृत्यु का, चाहे वह उच्च कुल का हो अथवा निम्न कुल का, पूर्ण ज्ञान कराना भी था। जन-संख्या की वृद्धि अथवा कमी का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य स्पष्ट है और इसका केवल राजकीय कर से सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही इस जन-गणना को रजिस्ट्री का राजनीतिक महत्व अधिक रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

चौथी उप-समिति का कार्य क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करना था। भार एवं पैमानों की जांच यही समिति करती थी। खाद्य-सामग्रियों को बेचने के लिए व्यापारियों को इसी समिति से आज्ञा प्राप्त करनी होती थी। कोई भी व्यक्ति बिना आज्ञा के एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय नहीं कर सकता था और जो व्यक्ति एक से अधिक वस्तु का व्यवसाय करता था उसे अनुपात में अधिक कर भी देना पड़ता था।

पांचवीं उप-समिति व्यापारियों पर कड़ी निगरानी रखती थी। यह समिति इस बात की देख-रेख करती थी कि औद्योगिक उत्पादन में किसी प्रकार की मिलावट करके उद्योगपति अनुचित लाभ न उठायें। नयी तथा पुरानी वस्तुएं किसी प्रकार भी नहीं मिलायी जा सकती थीं और उक्त समिति इस बात का ध्यान रखती थी कि ये अलग-अलग बेची जायं। नियम-भंग करने वाले व्यवसायियों को जुर्माना देना पड़ता था।

छठी उप-समिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना था। जो वस्तु जिस कीमत पर बेची जाय, उसका दसवां भाग कर के रूप में नगर-सभा को दिया जाय। कर न देने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

इससे स्पष्ट है कि पाटलीपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। इस आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साम्राज्य के अन्यान्य नगरों में भी ऐसी व्यवस्था रही होगी। यूनानी लेखकों के अनुसार पंजाब में अनेक नगर थे, जिनका शासन-संचालन नगर के मुख्य अधिकारियों द्वारा होता था।

———

चौथा अध्याय

150 ई० पू०—800 ई० के बीच उत्तर भारत में जिला-शासन

कुषाण-कालीन जिला-शासन :—

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् कुषाणों ने उत्तरी भारत के एक विशाल भू-भाग को दो से अधिक शताब्दियों तक राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। यह तथ्य कुषाण-शासन-व्यवस्था की महत्ता का परिचायक है। कुषाण-शासन का प्रमुख राजा हुआ करता था। वह बड़े-बड़े विरुद धारण किया करता था। कुजुल तथा अन्य कुषाण राजाओं ने 'महाराजा' तथा 'राजाति-राज'[1] जैसी उपाधियां धारण कर रखी थीं। अवश्य ही उनके मातहत कई अन्य राजा कार्य करते रहे होंगे। अतः ये उपाधियां उनकी राजकीय सत्ता के बड़े अधिकार को प्रदर्शित न कर प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण तथा सामन्तवाद के उदय को निर्देशित करती है। राजा की अन्य उपाधियां 'महीश्वर' तथा 'सर्व लोकेश्वर' थीं। कुषाणों का वह राज्य नहीं, बल्कि एक साम्राज्य था जिसकी सीमाएं पश्चिम में ईरान तक और पूर्व में मगध तक फैली हुई थीं। इतने बड़े साम्राज्य का शासन कुषाण सम्राट् अपने क्षत्रपों या महाक्षत्रपों की सहायता से चलाते थे। केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा जिला आदि का शासन-यन्त्र पहले ही जैसा था। इस सम्बन्ध में अलतेकर के कथन का सारांश इस प्रकार है—'उच्चाधिकारियों को महामात्र व रज्जुक ही कहते थे। अमात्यों में से ही उच्च पद के अधिकारियों की नियुक्ति होती थी।'

कुषाणकालीन शासन की प्रमुख इकाइयां आहार, जनपद, देश या विषय और राष्ट्र थे। कनिष्क के शासन-काल में बनारस, मथुरा और उज्जयिनी प्रमुख प्रान्त थे और इन स्थानों में महाक्षत्रप रहा करते थे। महाक्षत्रप के अधीन क्षत्रप हुआ करते थे। महाक्षत्रप कुषाण काल में प्रान्तीय शासक का पद था। मालवा के शुंग शासक अग्निमित्र का अपना मन्त्रिमण्डल था। अपने मन से ये लोग सन्धि-विग्रह भी किया करते थे, जैसा कि अग्निमित्र ने विदर्भ राज्य से किया था। इसका कारण यह था कि उस समय यातायात अथवा आवागमन की इतनी सुविधा नहीं थी और प्रान्तीय शासक बहुत हद तक अपने क्षेत्र में स्वतंत्र ही रहा

1. B. N. Puri—**India under Kushanas**. Whitehead-Catalogue of the Coin in the Punjab Museum—Vol. I, pp. 178 ff.

CII—II. P. 70 ff—'महाराजा राजातिराज देवपुत्र'—

करते थे। प्रान्त में सेना भी रखी जाती थी ताकि राजद्रोह अथवा विद्रोह दबाया जा सके। यौधेयों के विद्रोह के दमन के लिए कुषाणों ने अपने दक्षिण के महाक्षत्रप रुद्रदमन को भेजा था। सिथियन लोग प्रान्तीय शासक को क्षत्रप कहते थे। क्षत्रपों के ऊपर महाक्षत्रप होते थे। महामात्र एवं राजुक की प्रणाली भी इस युग में बनी रही। शुंगों के राज्य में मध्य भारत में और चुटु सातकर्णियों के राज्य में कर्णाटक में राजुक नामक अधिकारी थे। अमात्यों में से ही उच्च पद के अधिकारियों की नियुक्ति होती थी। महाक्षत्रप नदपाण का मन्त्री अयम और रुद्रदमन का सौराष्ट्र का प्रान्ताधिपति कुलेप दोनों ही अमात्य थे। इस युग में कहीं-कहीं प्रान्त को देश और राष्ट्र भी कहा गया है। राष्ट्र के शासक को राष्ट्रपति या राष्ट्रिक कहा गया है। यह कभी-कभी अमात्यों में से भी चुना जाता था। क्षत्रपों के राज्य में सौराष्ट्र का प्रान्ताधिप कुलेप था और मालवा का प्रांताधिप श्रीधर महादण्डनायक। कुषाण राज्य में दक्षिण के प्रांत का शासक सेनापति नदपाण और चष्टन थे।

कुषाण युग में जिला-शासन के सम्बन्ध में कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता है, परन्तु अनुमान किया जा सकता है कि जिले का शासन क्षत्रपों द्वारा सम्पन्न होता था। जिले का निर्देशन आहार, जनपद तथा विषय से होता था। कुषाण सम्राटों के कुछ अधिकारियों के नाम विदेशी थे। सैनिक राज्यपाल के लिए स्ट्रेटेथस और जिला मजिस्ट्रेट के लिए मेरीडक शब्द प्रयुक्त होता था। कुछ अधिकारियों के नाम भारतीय थे, जैसे—'अमात्य' और 'महासेनापति'। कनिष्क के सारनाथ वाले लेख से ज्ञात होता है कि वह अपने इस विशाल साम्राज्य का शासन क्षत्रप-शासन-व्यवस्था द्वारा करता था। उसके साम्राज्य का पूर्वी भाग महाक्षत्रप खरपल्लान तथा क्षत्रप वनस्पर द्वारा शासित होता था। खरपल्लान उसका महाक्षत्रप था जो सम्भवतः मथुरा में था और वनस्पर वाराणसी का क्षत्रप था। साम्राज्य के उत्तरी भागों में हम सेना-नायक दल और वेरायसी तथा लियाक नामक क्षत्रपों के नाम सुनते हैं।

कुषाण-शासन-प्रणाली में क्षत्रप अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। क्षत्रपों को कहीं-कहीं 'ग्रामस्वामी' नाम से भी पुकारा गया है। सम्भव है, इस रूप में क्षत्रप ग्रामिक तथा राजा के बीच शासन में मध्यस्थ का कार्य किया करता हो। क्षत्रपों का कार्य आहार, जनपद तथा विषय में शान्ति तथा सुव्यवस्था कायम करना तथा राजस्व की वसूली करना था। वैयक्तिक रूप से क्षत्रप लोग धार्मिक कार्यों में भी भाग लेते थे। क्षत्रप वनस्पर, खरपल्लन तथा वेशयासी ने बुद्ध की प्रतिमाएँ स्थापित की थीं और चैत्यों का भी निर्माण किया था। क्षत्रप की सहायता के लिए दण्डनायक हुआ करते थे। ये सैनिक पदाधिकारी कभी-कभी असैनिक कार्य भी किया करते थे। कनिष्क के समय में उसके क्षत्रप ने दान कार्य में भाग लिया था।

आहार एवं विषय के अन्तर्गत ग्राम का शासन सम्पन्न होता था। इस समय शासन-प्रणाली का सबसे छोटा विभाग ग्राम था। ग्राम का प्रमुख ग्रामिक होता था। क्षत्रप की ही तरह ग्रामिक का पद वंशानुगत था। प्रत्येक ग्रामिक को भूमि दान में मिला करती थी और उसी की आय उसका वेतन था। ग्रामिक के ऊपर गांव के अमन-चैन तथा शान्ति का उत्तरदायित्व था। राजकीय राजस्व की वसूली वही किया करता था। रुद्रदमन के शिलालेख में तीन प्रकार के करों का उल्लेख है—भाग, शुल्क व बलि। ग्राम-सुरक्षा का भार गुल्म पर था।

कुषाण राजत्व दैवी सिद्धांत से प्रभावित था। यह सत्य है कि कुषाण राजा बौद्ध धर्मावलम्बी थे, फिर भी उन्होंने 'देवपुत्र' उपाधि धारण की थी। कुषाणों में मृतक राजाओं की पूजा की परम्परा भी प्रचलित थी। इस दैवी सिद्धांत ने अवश्य ही कुषाणों की राजकीय निरंकुशता के सिद्धांत को सहयोग दिया होगा। कुषाण युग में भारतीय तथा रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार बड़े पैमाने पर होता था। आर्थिक उन्नति तो इससे हुई ही, प्रशासनिक व्यवस्था भी प्रभावित हुई। कुषाण राजा देवकुलों की स्थापना किया करते थे। यह परम्परा उन्होंने अवश्य ही रोमनों से सीखी होगी।[1] कुषाणकालीन कुछ प्रशासनिक व्यवस्थाएँ बाद में भारतीय शासन प्रणाली को प्रभावित करती रहीं। राजत्व के दैवी सिद्धान्त ने गुप्तकाल को प्रभावित किया। कुषाणों ने, अक्षयनीवी के अनुसार, भूमि दान में देने की जो परम्परा प्रारम्भ की थी वह गुप्तकाल में जाकर उसकी प्रशासनिक तथा आर्थिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता बन गयी। महादण्डनायक के पद तथा अधिकारों का विकास भी गुप्तकाल में ही हुआ। चाहे जो भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुषाण राजा मौर्यों की तरह एक केन्द्रीय राजतंत्रात्मक प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करने में असफल रहे। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का जन्म यहीं से हुआ। प्रशासन में सामन्तवाद के गुणों का समावेश भी इसी काल से प्रारम्भ होता है और ये दोनों विशेषताएँ गुप्तकालीन तथा उत्तरगुप्तकालीन शासन-व्यवस्था का प्रमुख अंग बन गयीं।

गुप्तकालीन जिला-शासन :—

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् कई सदियों का इतिहास अंधकारमय हो जाता

---

1. R. S. Sharma—*Aspect of Political Ideas & Institutions in Ancient India*—p. 168.

He thinks that the adoption of the title of Kaisar by the Kushanas was obviously used to challenge the Roman power. -- They established dual governorship so that one could act as a check on the power of the other. (p. 168).

है। इस काल में भारत में अनेक विदेशी जातियां आकर बस गयीं और उन्होंने अपने अपने राज्य स्थापित कर लिये। इन जातियों में यवन, शक, पहल्लव, कुषाण आदि उल्लेखनीय हैं। धीरे-धीरे ये जातियां भी भारतीय क्षितिज से विलीन होने लगीं और चौथी सदी ईस्वी के आरम्भ में गुप्तों का उत्थान प्रारम्भ हो गया। चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस वंश की वास्तविक स्थापना की तथा बाद में समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राटों के नेतृत्व में मगध के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार हुआ। फिर भारत के एक बड़े भाग में विशाल साम्राज्य का संगठन हुआ। इस युग की शासन-पद्धति के अध्ययन के लिए फाहियान का विवरण, गुप्तकालीन अभिलेख एवं सिक्के, विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' कालिदास की ग्रंथावली, कामन्दकीय 'नीतिसार' आदि सामग्रियां उपलब्ध हैं।

केन्द्रीय शासन की भूमिका :—

गुप्त साम्राज्य का शासन सम्राट् में केन्द्रित था, जो 'एकराट्' के रूप में वह स्वयं करता था। गुप्त शासक अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परमदेवत', 'सम्राट्' 'चक्रवर्ती', 'परमभट्टारक' आदि विरुद से विभूषित करते थे। समुद्रगुप्त को एक शिला-लेख में लोकधाम्नोदेवस्य कहा गया है। इस लेख के अनुसार वह लोकानुष्ठान और लोकपालन के लिए ही मनुष्य रूप था, वरन् वह संसार में रहनेवाला देवता ही था। दैवी भावना का विकास भी इस युग में हो रहा था और इसका प्रमाण 'याज्ञवल्क्यस्मृति' तथा नारद स्मृति में मिलता है। गुप्तकाल में यह सिद्धांत सर्वमान्य हो गया था। सम्राट् को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए मन्त्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। नारदस्मृति में राज्य की एक सभा का उल्लेख हुआ है, जिसके सभासद् धर्मशास्त्र में कुशल, अर्थज्ञान में प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु एवं मित्र को एक दृष्टि से देखनेवाले होने चाहिए। राजा अपनी इस राजसभा में मन्त्रियों के साथ परामर्श करता था। देश का कानून इस काल में भी परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित थे। महाराजाधिराज की पदवी कुषाणों की राजाधिराज पदवी से सम्बद्ध थी। अधार्मिक और प्रजापीड़क राजाओं की निन्दा इस युग के शिला लेखों में की गयी हैं। राजा के लिए शरीर से स्वस्थ होना और अश्वारोही तथा गजारोही होना आवश्यक समझा गया है। शास्त्रों का अध्ययन भी राजा के लिए अपेक्षित था।

सम्राट् के बाद सबसे ऊंचा स्थान युवराज का होता था। गुप्तकालीन शासन-प्रणाली में शासनाधिकार का नियम उत्तराधिकार के ऊपर आधारित होता था, किन्तु बहुधा सम्राट् अपने उत्तराधिकारी का अपने ही जीवन-काल में निर्वाचन कर लेता

था। ज्येष्ठ पुत्र को युवराज कहा जाता था। युवराज का पद बड़े ही महत्त्व का था। गुप्त साम्राज्य में युवराज का स्वतंत्र शासनालय रहता था। अपने पिता की सम्मति से वह प्रांतवालों को आदेश भी भेजता था। राजा की वृद्धावस्था में युवराज को ही शासन-संचालन का दायित्व वहन करना पड़ता था, जैसे—स्कन्दगुप्त को प्रथम कुमार-गुप्त के राज्यकाल के अन्त में करना पड़ा।

रानियां राज्य :—संचालन में हाथ बटाती हुई नहीं दीखतीं। प्रथम चन्द्रगुप्त की रानी कुमारदेवी सम्भवतः सहाधिकारिणी थी। वह प्रत्यक्ष शासन करती हुई नहीं दीख पड़तीं। चन्द्रगुप्त द्वितीय की रानी भी शासन कार्य नहीं करती थीं। राजा के नाबालिग होने पर विधवा राजमाता राज संचालन का भार सम्हालती थीं—जैसे, वाकाटक-वंशीय रानी प्रभावती गुप्त ने ऐसी अवस्था में शासन-संचालन किया था।

शासन विषयक, सेना विषयक तथा न्याय विषयक सभी अधिकार राजा में केन्द्रित थे। उसकी सहायता के लिए एक मंत्रिमण्डल था, किन्तु अन्तिम निर्णय राजा लेता था। महत्त्वपूर्ण युद्धों में राजा स्वयं सेनापतित्व भी करता था। महत्त्वपूर्ण स्थानों पर उच्च-पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होते थे। सम्राट् स्वयं केन्द्रीय शासनालय की देखभाल करता था और प्रांतीय गवर्नरों को आदेश भेजता था। इस प्रकार सभी सेवाओं को अपने हाथ रखते हुए भी राजा प्रत्यक्ष व्यवहार में निरंकुश शासक था। राजा विदेश नीति का निर्धारण भी करता था। वह अपने साम्राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था। उससे ऊपर किसी मुकदमें की सुनवाई नहीं हो सकती थी। गुप्तकाल की स्मृतियाँ और अभिलेख राजा को प्रजाहित एवं प्रजा पालन के निमित सदैव प्रयत्नशील रहने के लिए उपदेश देते हैं।[1] राजा प्रायः इस उपदेश का पालन करते थे। स्थानीय संस्थाओं को भी शासन के बहुत सारे अधिकार दे दिये जाते थे। चीनी यात्री फाहियान से इस बात का प्रमाण मिलता है कि गुप्त-युग में लोग सुखी और सम्पन्न थे व सरकारी जुल्म के विषय में प्रायः उनकी शिकायतें नहीं रहती थीं।[2]

कदंब, पल्लक एवं वाकाटक शासन-प्रणाली में शासनालय का एक सर्वाध्यक्ष रहता था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि वैसी ही प्रथा गुप्त साम्राज्य में भी

---

1. प्रजासंरंजनपरियालनोद्योगसंततसमदीक्षितस्य।
हं० व० 5. 31. ए० इं० 7. 235.

2. लेग्गे—ए रेकर्ड आफ बुद्धिस्ट किंगडम्, अध्याय 16.
स्कंदगुप्त का जूनागढ़-शिलालेख (का० इ० इं० 3. 58)
श्लोक 6, 21. 3.

रही होगी। शासनालय में अनेक विभाग रहते थे। प्रत्येक की अपनी मुद्रा या मुहर रहती थी, जिससे संदेश अंकित किये जाते थे। कुमारामात्य, दण्डनायक, जलाधिकृत, युवराज इत्यादि के दफ्तरों की मुहरें हमें प्राप्त हुई हैं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को मंत्रिमण्डल के समक्ष रखा जाता था और उसका अध्यक्ष राजा ही हुआ करता था। सरकारी आज्ञाएं प्रायः लिपिबद्ध होती थीं तथा राजा के मौखिक आदेशों को भी नोट किया जाता था। राजा या युवराज के अधीन सेना-विभाग काफी महत्त्वपूर्ण था। सेना में अनेक महासेनापति रहते थे, जो साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहकर सैन्य-संचालन में राजा की सहायता करते थे।

विशाल गुप्त साम्राज्य भी कई प्रान्तों में विभक्त था। प्रान्त को राष्ट्र देश[1] अथवा मण्डल भी कहते थे। गुप्तकालीन शिलालेखों के आधार पर सुराष्ट्र, मालवा, मन्दसोर कौशाम्बी, अन्तर्वेदी (यमुना और गंगा के बीच का प्रदेश) आदि प्रान्तों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त काशी, कोशल, मगध, वंग, पंचाल आदि दूसरे प्रान्त भी गुप्त-साम्राज्य में रहे होंगे। सौ राष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय में पर्णदत्त था। मन्दसोर का शासन बन्धुवर्मा के हाथ में था। प्रान्तीय शासक के रूप में राजकुल के लोग ही नियुक्त किये जाते थे। इन्हें 'युवराज-कुमारामात्य' कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादण्डनायक आदि प्रधान कर्मचारी भी होते थे।

प्रत्येक राष्ट्र भुक्तियों में विभक्त होता था और भुक्तियों विषयों में विभक्त होती थीं। भुक्ति को हम आजकल की कमिश्नरी के समान समझ सकते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों में तीरमुक्ति, पुण्ड्रवर्धनमुक्ति और मगधमुक्ति आदि का उल्लेख मिलता है। 'विषय' वर्तमान समय के जिले के समान थे। युवराज कुमारामात्यों के अधीन मुक्तियों का शासन करने के लिए उपरिक नियुक्त किये जाते थे। उपरिकों की नियुक्ति सीधे सम्राट् द्वारा होती थी और साधारणतः इस पद पर भी राजकुल के लोग ही नियुक्त किये जाते थे। विषय के शासक को 'विषयपति' कहते थे। इसकी नियुक्ति सम्राट् द्वारा की जाती थी। भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदर गुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धनमुक्ति का शासक उपरिकर महाराज राजपुत्र देवपुत्र देवभट्टारक था, जिससे यह सिद्ध होता है कि वह 'राजकुल' का था। इससे पूर्व इस पद पर चिरातदत्त नामक व्यक्ति था, जो राजकुल का नहीं था।

---

1. सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्।

का० इ० इ०, 3. 66.

वैशाली से प्राप्त मुहरों से भी ज्ञात होता है कि राजकुमार प्रान्तीय शासक के रूप में नियुक्त किये जाते थे। मुहरों में बहुत-सारे ऐसे अधिकारियों का उल्लेख है, जो प्रान्तीय शासन से सम्बद्ध थे; जैसे—

(क) उपरिक—प्रान्तीय शासक या गवर्नर।
(ख) कुमारपालाधिकरण—राजकुमार के मन्त्री का कार्यालय।
(ग) जलाधिकरण—सेनापति का कार्यालय।
(घ) दण्डपाशधिकरण—प्रधान पुलिस-अधिकारी का कार्यालय।
(च) महादण्डनायक—प्रमुख न्यायाधीश।
(छ) विनयस्थितिस्थापक—कानून और व्यवस्था मन्त्री।

इनके अतिरिक्त भी अनेक कर्मचारियों का उल्लेख है, जिनके सम्बन्ध में केन्द्रीय शासन के सन्दर्भ में विचार किया जा चुका है।

गुप्तों का प्रान्तीय शासन मौर्य शासन और शक शासन के आदर्श पर आधारित था। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि वैशाली के समान ही अन्य प्रान्तों का शासन प्रबन्ध रहा होगा और उसी की तरह के अधिकारी सभी स्थानों में रहे होंगे। कुछ प्रदेशों का शासन सामन्तों के अधीन था, जो देश परम्परागत रुप से शासन करते थे। 401 ई० के उदयगिरि के गुहालेख से तीन पीढ़ी के सामन्त शासकों का परिचय मिलता है; जैसे—महाराज चगलग, उसका पुत्र विष्णुदास तथा पुनः उसका पुत्र। गुप्त संवत् 64 के एक गया-अभिलेख से सामन्त शासक महाराज त्रिकमल का उल्लेख मिलता है। कभी-कभी सामन्त शासक अपने सिक्के भी चलाते थे। महाराज हिस्तन् का उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। ये गुप्त सम्राट् की राजनीतिक प्रभुता मानते थे। प्रान्तीय शासक को 'गोप्ता' या उपरिक महाराज' भी कहा जाता था। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति समझ-बूझ कर की जाती थी तथा उनकी सहायता के लिए अनेक कर्मचारी भी होते थे। सम्राट् उपरिक महाराज की सलाह से विषयपति की नियुक्ति करता था। प्रान्तीय शासकों का मुख्य कार्य निम्न-लिखित था—

(क) प्रान्त में शांति-सुव्यवस्था बनाये रखना,
(ख) कर-वसूली की व्यवस्था करना,
(ग) परचक्र से प्रजा की रक्षा करना,
(घ) सुख-समृद्धि के लिए प्रबंध करना,
(च) राजा के प्रति प्रजा में विश्वास उत्पन्न करना,
(छ) सीमावर्त्ती राज्यों के आक्रमण से राज्यों को सुरक्षित रखना।

केन्द्रीय सरकार के प्रायः सभी विभागों की शाखाएँ प्रांतों में भी रहती थीं। गुप्तकाल में प्रादेशिक शासक सीधे सम्राट से सम्बन्ध रखते थे। पुण्ड्रवर्धन का शासक कुमारगुप्त के आदेशानुसार काम करता था। गुप्त युग में सामन्तवाद का विकास हुआ और उसका प्रभाव केन्द्रीय तथा प्रांतीय शासन पर भी पड़ा। सामन्त सम्राट की अधीनता स्वीकार करते हुए अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होते थे। गुप्त-अभिलेखों में अनेक सामन्तों का उल्लेख मिलता है। सामन्त और महासामन्त अधीनस्थ शासकों की स्थिति में रहते थे। ये लोग लेख भी उत्कीर्ण कराते थे और उन लेखों में ये अपने महाराजा के प्रति अधीनता प्रदर्शित करते थे। अपने महाराजा द्वारा कभी-कभी ये लोग अभिषिक्त किये जाते थे। महाराजा द्रोण सिंह के एक शिलालेख में सम्राट द्वारा उसके अभिषिक्त किये जाने का वर्णन है। बड़े-बड़े सामन्तों को सामन्त-चूड़ामणि जैसी उपाधि दी जाती थी। महाराज हस्तिन द्वारा उत्कीर्ण कराया गया एक लेख बड़े महत्व का है। गुप्त सम्राट के दरबार में बहुत-से सामन्त उपस्थित रहते थे। ये सामन्त लोग अपने-अपने क्षेत्र अथवा प्रांत में शासन के अधिकारी होते थे। ये प्रांतीय शासन का भार सम्भालते थे और आवश्यकता पड़ने पर राजा की सहायता भी करते थे। 435 ई० में मालवा प्रांत में गुप्त राजकुमार घटोत्कच गुप्त प्रांतीय शासक पद पर स्थित था। गुप्त साम्राज्य में काठियावाड़, मालवा और गुजरात प्रांतों का पद रखते थे।

गुप्तकाल में प्रांत अनेक भुक्तियों और विषयों में बँटे हुए थे। प्रत्येक मुक्ति में प्रायः दो या तीन विषय होते थे। मगधभुक्ति में गया और पाटलीपुत्र—दो विषय थे। तीरभुक्ति में तिरहुत के सभी विषय थे, पुण्ड्रवर्धन मुक्ति में तीन-चार विषय और इसी प्रकार सभी भुक्तियों में कई विषय थे। भुक्ति के मुख्याधिकारी को उपरिक कहा जाता था। उपरिक की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। उपरिकों की कभी-कभी महाराज पदवी होती थी। सभव है, ऐसे उपरिक भूतपूर्व राजवंश के वशज होगे। विषयपति की नियुक्ति कभी सम्राट् करते थे और कभी उपरिक। भुक्ति और विषय के अनेक अधिकरणों (दफ्तरों) की मुहरें प्राप्त हुई हैं। उपरिक युवराज कुमारामात्य के अधीन होता था। भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। सब पदाधिकारियों का विस्तृत विवरण हम बाद में प्रस्तुत करेंगे।

जिला-शासन का विस्तृत विवरण :—

गुप्त-युग में जिला के लिए विषय शब्द का प्रयोग किया गया है। जिला को कभी-कभी आहार भी कहा जाता था। विषय का शासक विषयपति कहलाता था।

इसकी नियुक्ति प्रांतपाल करता था। वैशाली की अनेक मुहरों में विषयपति के लिए 'कुमारमात्य' की उपाधि का प्रयोग किया गया है। इनका शासन में बहुत महत्त्व था। विषयपति प्रायः वही कार्य विषयों में करता था, जो कि उपरिक भुक्तियों में करते थे।

प्रांतों के अतिरिक्त जिले (विषय) और उनसे छोटे भी शासन के क्षेत्र थे। गुप्तयुग में भोग (डिवीजन), वीथी (तहसील या परगना), मण्डल (ग्रामसमूह), पेटक, पार्श्व,ग्राम, पत और अग्रहार सम्भवतः विषय के प्रशासनिक अंग रहे होंगे। जिले का अध्यक्ष विषयपति सीधे प्रांतीय शासक के प्रति उत्तरदायी था और तन्नियुक्तक कहलाता था। उसका प्रधान कार्यालय 'अधिष्ठान' में होता था, जहाँ अधिकरण अर्थात् आफिस रहता था। दामोदरपुर के ताम्र-पत्र से विषय शासन के सम्बन्ध में हमें कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती है। विषय के शासक विषयपति को परामर्श देने के लिए एक सभा होती थी, जिसमें जिले के बड़े लोग (विषयमहत्तर) सभासद् के रूप में रहते थे। इसके सदस्यों की संख्या तीस के लगभग होती थी। विषयपति को शासन-सम्बन्धी कार्यों में सहायता देने के लिए अनेक कर्मचारी थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(क) नगरश्रेष्ठी—नगर का प्रधान सेठ अथवा श्रेणी प्रमुख,

(ख) सार्थवाह —नगर का प्रमुख व्यवसायी अथवा व्यापारियों के संघ का प्रधान,

(ग) प्रथमकुलिक—प्रधान शिल्पी अथवा शिल्पी संघ का प्रमुख,

(घ) प्रथमकायस्थ—प्रधान लेखक,

(च) पुस्तपाल —संग्रहाधिकारी।

विषय के इन शासनाधिकारियों के कार्यकाल की अवधि भी कम-से-कम पांच वर्ष अवश्य रही होगी। पुस्तपाल को छोड़कर अन्य चार अधिकारियों के द्वारा एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण होता था जिसका अध्यक्ष विषयपति ही होता था। शासन के कार्यों में विषयपति अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से परामर्श लिया करता था। इस मन्त्रिमण्डल के अस्तित्व से यह सिद्ध हो जाता है कि नगर-शासन में लोकमत का भी कुछ हाथ रहता था। मन्त्रिमण्डल के सदस्य नगर की जनता के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते थे। इसके अतिरिक्त जिले के मुख्य लोग महत्तर के रूप में रहते थे। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस काम के लिए नियुक्त कर लेता था। जिला-परिषद् की इस व्यवस्था को हम गुप्तकाल की देन मान सकते हैं।

कम-से-कम गुप्तकाल में तो अवश्य ही जिलों के प्रशासन में जनता का काफी हाथ रहता था। प्रथम महाजन, प्रथम व्यवसायी, प्रथम शिल्पकार और प्रथम कायस्थ या लेखक उस परिषद् के प्रमुख सदस्य थे, जो पांचवीं सदी ई० में बंगाल के 'कोटि-वर्ष' के विषयपति को शासन-कार्य में सहायता प्रदान करती थी। परन्तु इससे जिले के शासन में धनपतियों की प्रधानता नहीं प्रगट होती। ये तो केवल परिषद् के प्रमुख सदस्य थे और इनके अतिरिक्त इसमें और भी बहुत-से सदस्य थे। फरीदपुर ताम्र-पत्र से[1] यह ज्ञात होता है कि परिषद् में करीब 20 सदस्य होते थे और इसमें ब्रह्मण तथा ब्रह्मणेत्तर सभासद् भी होते थे। सभासदों को विषममहत्तर कहते थे और इनकी कुछ मुहरें नालन्दा में भी मिली हैं। ये लोग निर्वाचित होते थे अथवा मनोनीत, यह कहना कठिन है, परन्तु इतना स्पष्ट है कि विभिन्न वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व परिषद् में रहता था और अनुभवी व्यक्ति भी इसमें लिये जाते थे। इन महत्तरों के कारण जिले के शासन में जनता का काफी हाथ रहता था। विषयपति को जिले के सम्बन्ध में इनसे काफी मदद मिलती थी। विषय के शासक विषयपति या कुमारामात्य का गुप्त साम्राज्य में बहुत महत्त्व था।

गुप्तकाल के पहले या बाद के लेखों से जिला-पंचायत का विशेष विवरण नहीं मिलता। परन्तु आन्ध्र देश के छठी शताब्दी के विष्णुकुण्डी[2] लेख तथा नवमी सदी के गुजरात के एक राष्ट्रकूट—लेख[3] में विषयमहत्तर या जिला-पंचायत के सदस्यों का उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि गुप्तकालीन कोटिवर्ष-विषय परिषद् की तरह बाद में भी जिला पंचायतें कार्य कर रही थीं।

वामोदरपुर :—अभिलेखों से विदित होता है कि विषयपति के अधिकरण का प्रबन्ध अच्छी तरह होता था। पुस्तपाल आदेश, लेखादि सुरक्षित रखता था और जिले की भूमि, भवन, क्षेत्रफल, उपज आदि का लेखा भी रहता था। परती जमीन बेचने के समय केन्द्रीय सरकार विषयपति के अधिकरण से पूछताछ करती थी। कई ताम्रपत्रों पर विषय-अधिकरण की मुहर भी प्राप्त हुई है।[4] ऐसा सम्भवतः इस कारण से होता होगा कि दान देने में उसकी सहमति का होना आवश्यक रहा होगा। जिले का अपना लेखपत्र कार्यालय होता था, जिसका अध्यक्ष पुस्तपाल होता था। नालन्दा से प्राप्त राजगृह और गया विषयों की मुद्राओं से जो ज्ञात होता है कि जिले

1. इंडि० ऐंटि० 1912, पृ० 195 सं०
2. ज० आ० हि० रि० सो, भाग 6, पृ० 17
3. एपि० इंडि०, 1—पृ० 55
4. इंडि० ऐंटि०, 1910 पृ० 195, 274

से बाहर के व्यक्तियों से जो पत्र-व्यवहार होता था, उसपर जिले की सरकारी मुहर लगती थी।[1] सब काम नियमित ढंग से होता था और धर्मिक दान के लिए भूमि खरीदने की आवश्यकता पड़ने पर स्वयं विषयपति को भी जिला पंचायत के सामने उपस्थित होकर उसकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी।[2]

पुण्ड्रवर्धनमुक्ति में कोटिवर्ष नामक एक प्रमुख विषय था, जिसका अधिकारी स्वयम्भूदेव था, जो परामर्शदातृ समिति की सहायता से कार्य करता था। इसमें भगवान स्वतेवाराह स्वामी का संदेश था। इनके नाम दान की हुई भूमि थी, जिसका अनुदान पांच ग्रामों से ली गयी भूमि की पट्टियों से मिलाकर बना था। खण्ड-चार और वंचनगर विषयों के भी नाम मिले हैं। मल्लसारुल-शिलालेख से ज्ञात होता है कि वर्धमानभुक्ति के अन्तर्गत अनेकानेक स्थानीय प्रशासकीय विभाग थे, जो अपने-अपने अध्यक्षों के अधीन थे और उनमें विषयपति भी एक था। फरीदपुर—अभिलेख से ज्ञात होता है कि नव्यावकाशिक भुक्ति में वराकमण्डल नामक एक विषय गोपाल स्वामी विषयपति के अधीन था। इस जिले में राज्यपाल स्थाणुदत्त ने जजाव नामक एक विषयपति को नियुक्त किया था। अभिलेखों में साधनिक नामक एक अधिकारी का उल्लेख है, जो सम्भवतः साधनों या उपायों का प्रबन्ध करता था। पाटलिपुत्र में राजगृह, गया और क्रिमिला विषय थे। वैशाली भी विषय-शासन का प्रधान केन्द्र था। तीरमुद्रिक के कटरा-अभिलेख में चामुण्डा विषय का उल्लेख मिलता है।

आधुनिक कलक्टर की भांति विषयपति का काम जिले में शांन्ति-सुव्यवस्था कायम रखना और मालगुजारी तथा अन्य करों की वसूली करना था। विषयपति के अधीन राजकीय करों को एकत्र करने के लिए अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त और व्यावृत[3] आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता था। वे प्रांतों का ग्रामों से सम्पर्क स्थापित कराने में सहायता देते थे। मौर्य काल में भी जिले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। कुछ विद्वानों के अनुसार इनमें से कुछ मौर्य काल में गोप[4] और गुप्तयुग के बाद के गुजरात में भुव नाम से सम्बोधित किये जाते थे।[5] गुप्तयुग में बड़े पदाधिकारियों के नाम बदल गये थे, पर छोटे राजपुरुषों के अब भी वही नाम थे, जो कम-से-कम सात सदियों से भारत में प्रयुक्त होते आ रहे थे।

---

1. अ० स० रि०, 1913-14
2. एपि० इंडि० 23 पृ० 54
3. का० इं० इं० 3 पृष्ट 165; इंडि० ऐं० 13 पृ० 15
4. अर्थशास्त्र, भाग 2, अध्याय 36
5. का० इं० इं०, 3 पृ० 105

विषयपतियों [कुमारामात्यों] का गुप्त-शासन में बड़ा महत्त्व था। अभिलेखों में विषयपति के लिए कुमारामात्याधिकरण, युवराजगदीयकुमारामात्य, युवराजभट्टारक पदीय कुमारामात्य और परमभट्टारकपदीय कुमारामात्य आदि उपाधियां मिलती हैं। शान्ति और सुव्यवस्था के स्थापनार्थ विषयपति के अधीन छोटा सैन्यदल भी रहता था। दण्डनायक, जिसका नाम लेखों तथा मुद्राओं में बहुत आया है, सम्भवतः जिले में स्थित इस सैन्यदल का नायक होता था। विषयपति के अधीन भी दण्ड-पाशिक (पुलिस के कर्मचारी), चोरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस) और आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) रहते थे। इनके अतिरिक्त शौल्किक, गौल्मिक, पुस्तपाल और करणिक विषयपति के प्रमुख कर्मचारी थे। पुस्तपाल विषयों में रहता था। उसे भूमि के क्रय-विक्रय की सारी व्यवस्था सूचित करनी पड़ती थी। भूमि का क्रय तभी कानूनी माना जाता था जब पुस्तपाल क्रेता का आवेदन पत्र पाकर विक्रय-सम्बन्धी भूमि का स्वामित्व-निर्णय कर लेता और अपनी रिपोर्ट सरकार को लिख भेजता। दामोदर के प्रथम ताम्रपत्र की तिथि गुप्त संवत् 124 है। इसमें उल्लिखित विषय के शासक तथा राजकीय कर्मचारियों के नाम निम्नांकित हैं—

1. विषयपति—कुमारामात्य वेभवर्मन्
2. नगरश्रेष्ठी—धृतिपाल
3. सार्थवाह —वन्धुमित्र
4. प्रथमकुलिक—धृतिमित्र
5. प्रथमकायस्थ—शाम्बपाल
6. पुस्तपाल—(क) रिसिदत्त
   (ख) जयनन्दि
   (ग) विभुदत्त

पुलिस, जंगल, वाणिज्य आदि विषय विषयपति के अधीन रहते थे। विषयपति को न्याय का अधिकार था या नहीं, इसके सम्बन्ध में जानकारी नहीं मिलती। सम्भवतः यह जिले की अदालत का अध्यक्ष रहा होगा।

'विषय' में अनेक नगर और ग्राम होते थे। विषय अनेक नगरों को मिलाकर बनाया जाता था। नगरों के शासन के लिए 'पुरपाल' नामक कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। गुप्तयुग में नगर को 'पुर' कहा जाता था। पुरपाल केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे शासन कार्य में परामर्श देते थे। पुरों की निगम सभाएँ भी विद्यमान थीं।

गुप्तकाल में अनेक सुन्दर-सुन्दर तथा बड़े नगर थे; जैसे—तक्षशिला, उज्जयिनी, मन्दसो, पाटलीपुत्र, सौराष्ट्र आदि। इनके प्रशासन के लिए नगरपालिकाओं का प्रबंध था। नगरों में नगरसभा की भी व्यवस्था थी। नगरपति द्रांगिक कहलाता था और कू व्यापारियों तथा नगरवासियों से कर संग्रह करता था। वह जनता के स्वास्थ्य पर भी ध्यान रखता था। नगरपति की नियुक्ति विषयपति के द्वारा होती थी। स्कन्दगुप्त के समय में पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित सौराष्ट्र में नगरपति के पद पर था। उसने सुदर्शन झील की फिर से मरम्त करवायी थी। कोटिवर्ष, वैशाली, गिरनार आदि स्थानों में नगर-शासन संगठित था। नगरपालिकाओं का मंत्री पुरपाल उपरिक होता था। गुप्तयुग की नगर शासन-प्रणाली का उल्लेख वैशाली से प्राप्त मुहरों में है। वैशाली की एक मुहर में उदानकूप नामक नगर की परिसा का उल्लेख मिलता है।

नगर-प्रशासन की सभी बातों पर नगरसभाओं का नियंत्रण रहता था। गुप्त-काल में नगर कमेटी नगर में पानी का प्रबंध करती थी, नगर को साफ रखती थी और मनोरंजन आदि का प्रबंध करती थी।[1] स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाता था। यदि कोई मनुष्य मुख्य मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा भवन के निकट गन्दगी फैलाते हुए पकड़ा जाता था, तो वह दण्ड का भागी होता था और उसे एक पण दण्ड कर के रूप में देना पड़ता था। नगरों का अपना न्यायालय भी होता था और उसमें न्यायाधीशों की सहायता के लिए गैरसरकारी पंच भी होते थे। मौर्यकाल की भांति प्रायः नगरों के चारों ओर संरक्षण के लिए खाइयां होती थीं। व्यापारियों तथा शिल्पियों के संघ इस काल में भी विद्यमान थे।

शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी, जिसकी शासन-व्यवस्था गाँव का मुखिया करता था। प्रत्येक ग्राम का अपना क्षेत्रफल होता था। ग्राम के अधिपति को ग्रामपति या महत्तर कहते थे। इसको शासन-कार्य में सहायता देने के लिए एक पंचायत होती थी, जिससे पंच-मण्डली और जनपद आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति अम्रकदिव ने एक गाँव की पंच-मण्डली को 25 दीनारों का दान दिया था। इसका उल्लेख सांची के एक शिलालेख में किया गया है। गुप्तों से पूर्व ग्राम की सभा को पंच-मण्डली नहीं कहा जाता था। नालन्दा में कई जनपदों की मुहरें मिली हैं, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि जो पत्र बाहर के व्यक्तिवों को भेजे जाते थे उन पर जनपदों की मुहर लगी होती थी। इनसे यह स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल में पंचायतों को

1. का० इ० 3, पृ० 75

'पंच-मण्डली' और 'जनपद' के नाम से पुकारा जाता था। इससे पूर्व ग्राम-पंचायतों के लिए इन शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। ग्राम-पंचायत अपने कार्य में स्वतंत्र थी। केवल कर के विषय में उसका सम्बन्ध केन्द्रीय शासन से था।

ग्राम-पंचायत के कुछ पदाधिकारियों का उल्लेख दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख (नं० 3) में इस प्रकार है—(1) महत्तर, (2) अष्टकुलाधिकारी—या आठ कुलों के मुखिया, (3) ग्रामिक—ग्राम के प्रधान व्यक्ति (4) कुटुम्बिन—परिवार के मुख्य व्यक्ति। इन्हीं चार सभ्यों के द्वारा ग्राम शासन का प्रबन्ध होता था। ग्रामपति का अधिकार विस्तृत था। वह ग्राम सभा की राय से सब काम करता था। ग्राम में न्याय का अधिकार पंचायत के हाथ में था। ग्राम-सभा सरकार के लगभग समस्त कर्त्तव्यों का निर्वहन करती थी। ग्राम-पंचायत का निम्नांकित कार्य था—

(1) सरकारी कर वसूल करना,
(2) शान्ति एवं सुव्यवस्था कायम रखना,
(3) नाबालिगों के हित की रक्षा करना,
(4) पारस्परिक विवादों का निर्णय करना,
(5) सार्वजनिक कार्यों का आयोजन करना,
(6) सीमानिर्धारण करना, और
(7) ग्राम के चारों ओर सुरक्षा हेतु बनायी गयी खाई का प्रबन्ध करना।

अतः हम कह सकते हैं कि ग्राम-संस्थाएं एक छोटी प्रजातंत्र थीं। इसमें प्रजा को सारा अधिकार रहता था।[1]

ग्रामसभा के सदस्यों का निर्वाचन किस प्रकार किया जाता था, इसका उल्लेख नहीं मिलता। सदस्यों के लिए लेखों में 'महत्तर' शब्द के प्रयोग से यह अनुमान होता है कि विभिन्न वर्गों के वयोवृद्ध जनों को, जो अपनी आयु, अपने अनुभव और चरित्र के कारण जनता में प्रतिष्ठित एवं विख्यात होते थे, लोकमत द्वारा ग्राम-सभा का सदस्य मनोनीत कर लिया जाता था। ग्राम-शासन की सुविधा के दृष्टिकोण से ग्राम-सभा उप-समितियों का भी निर्माण करती थी। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के प्रबन्ध के लिए भिन्न-भिन्न समितियाँ होती थीं। ग्राम-शासन के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी, जो प्रायः कर द्वारा ग्राम-सभाओं को प्राप्त होता था। ग्रामों के आय-व्यय का हिसाब रखने वाला कर्मचारी तलवाटक कहलाता था। ग्राम-शासन के निरीक्षण के लिए राजा की ओर से एक अधिकारी नियुक्त होता था और

1. गुप्त साम्राज्य का इतिहास : वासुदेव उपाध्याय, पृ० 37

उसी के द्वारा राजा को ग्राम-सम्बंधी बातें ज्ञात होती थीं। भूमि-सम्बन्धी समस्त लेखों का संग्रह पुस्तपाल करता था। ग्रामों की सीमाओं का निर्माण बहुधा दीवारों और नालियों द्वारा किया जाता था। गुप्त लेखों में सीमा-निर्धारण के लिए नाली के प्रयोग के उदाहरण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। गांव में सब तरह के लोग रहते थे और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति मूल रूप से गांव में ही हो जाती थी। जिलों तथा ग्रामों में होनेवाली घटनाओं का समाचार केन्द्रीय सरकार को मिलता रहता था।

मत्तसारुल-अभिलेख में वीथी (तहसील), पट्टेटलक और पहाड़पुर-अभिलेख में ग्राम, पार्श्व और वीथी का उल्लेख है। वीथी सभा में दो प्रकार के सदस्य होते थे—महत्तर और कुटुम्ब। कार्यालयों में पुस्तपाल, कायस्थ और कुलिक काम करते थे।

राजस्व विभाग—राज्य की आय के साधन प्रचुर और विभिन्न थे। सबसे अधिक आय भूमि-कर से होती थी, किन्तु इसके और भी कई साधनों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य और लेखों में मिलता है; जैसे—नियमित कर, सामयिक कर, अर्थदण्ड, राज्य-सम्पत्ति से आय और अधीनस्थ सामन्तों से प्राप्त उपहार। राजकीय कर वसूलने का कार्य सम्भवतः विषये (जिला) के अन्तर्गत था।

नियमित कर के अन्तर्गत उद्रंग (भूमिकर), उपरिकर (भोग-कर), भूतोवात-प्रत्याय, विष्टी तथा अन्य प्रकार के कर थे। कुछ स्थानों में भूमि-कर के लिए 'भागकर और कुछ स्थानों में 'उद्रंग' शब्द का प्रयोग मिलता है। भूमि की अवस्था के अनुसार कर 16 प्रतिशत से लेकर 25 प्रतिशत तक लगाया जाता था। भूमि-कर को कहीं-कहीं उपरिकर भी कहा जाता था। मौर्य-काल में जिस चुंगी को 'शुल्क' संज्ञा से अभिहित किया जाता था, उसी को गुप्तकाल में 'भोगकर' कहते थे। राजा उपज का छठा भाग कर के रूप में लेता था। भूमिकर-संग्रह के लिए प्रवाधिकरण था और भूमि-सम्बन्धी लेखों को सुरक्षित रखने के लिए पुस्तपाल, महाक्षपटलिक तथा करणिक थे। भूमि को नापने की व्यवस्था भी की गयी थी। परिमित को 'पादवर्त' कहा जाता था। प्रत्येक भूमि की सीमा निर्धारित की गयी थी और सरकारी लेखों में उसका विवरण रखा गया था। भूमि नापनेवाले को 'प्रभातृ' तथा सीमा-निर्धारित करने वालों को 'सीमाकार' या 'सीमाप्रदातृ' कहते थे। भूमि-सम्बन्धी मामलों के निबटारे के लिए राजा के द्वारा न्यायाधिकरण नियुक्त किया जाता था। कृषि की वृद्धि के लिए कुएँ, तालाब और नहरों का निर्माण किया गया था। दामोदरपुर-ताम्रपत्रों से ज्ञात होता है कि भूमि दान में दी जाती थी, वह बेची नहीं जा सकती, ताकि उसकी उपज से दान का उद्देश्य पूरा हो सके। कृष्ट भूमि को क्षेत्र कहते थे।

भूमि के और भी कई प्रकार होते थे; जैसे—खिल (बंजर), अप्रहत (जो तोड़ी न गयी हो), अप्रतिकर (जिसका कर नियत न हुआ हो)।

गुप्तकालीन शिक्षालेखों में वर्णित कर निम्नांकित हैं—

कर, प्रणय—अनिवार्य या स्वेच्छा चन्दा, विष्टी—बेगार, पुष्प और चीर से आय, दूध के लिए गाय और यातायात ने लिए बैल, चर्मागारक—चमड़ा और कोयला, चारासन (चारागाहों का शुल्क), लवण, किलल (तेल), किण्व (औषधि), मुक्तवाहन, भट (पुलिस), चाट द्वारा अप्रवेश्य—दशापराध पर किये गये जुरमाने और भोगभाग—खान की आय। उपज के आधार पर भूमि के कई प्रकार थे—नाल (खेतिहर भूमि), खिल (परती), वास्तु (बस्ती), अप्रहत (बिना जोती हुई) और अप्रदा (जिससे सरकार को कोई आमदनी नहीं होती थी)।

भूतोवात प्रत्याय के अर्थ को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद है। यह एक प्रकार का कर था, जो भीतर आनेवाली तथा उस स्थान पर पैदा होनेवाली वस्तुओं पर लगाया जाता था। गुप्तकालीन लेखों में स्थूल रूप से जिन 18 प्रकार के करों का निर्देश किया गया है, उनमें इसका विवरण नहीं है। प्रजा से हिरण्य के रूप में भी कर वसूल किया जाता था और व्यापारियों से 'चुंगी कर'। अग्रहार ग्राम 'चाट भाट प्रवेशदण्ड' से मुक्त रहता था।

राजकीय कोष विभिन्न मदों पर खर्च किया जाता था। राज प्रबन्ध, कर्मचारियों का वेतन, सेना, पुलिस, जन कल्याण, मन्दिर निर्माण, शिक्षा, आकस्मिक आपत्ति के समय सहायता आदि मदों पर रुपये खर्च किये जाते थे।

न्याय विभाग—नीति और स्मृति-ग्रंथों से स्पष्ट होता है कि न्याय का विधान पक्षपात-रहित होता था। राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। न्यायाधीश स्वयं गंभीर विद्वान हुआ करते थे।

स्थानीय न्यायालयों में कुल, श्रेणी और गण—तीन मुख्य थे। इनमें गण-सभा सबसे उच्च थी।[1] सम्भवतः गण विषय-न्यायालय होता था। न्यायाधीश राजा से अधिकृत होते थे। आधुनिक पंचायतों के समान इनका स्वरूप था।[2] डा० मुकर्जी,

---

1. कुलानि श्रेणयश्चैव गणश्चाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठिता व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम् ॥ नारद० 1. 7.
बृहस्पति और याज्ञवल्क्य ने गण के स्थान पर पूग शब्द दिया हैं।
बृह० 1. 28. याज्ञ० 2. 30.

2. Kane : *History of Dharmashastra*, Vol. III. p. 280.

जायसवाल और डा० दीक्षितार जैसे विद्वानों ने इन शब्दों की व्याख्या की है। इनकी व्याख्याओं के आधार टीकाकारों एवं शिलालेखों का उपलब्ध साहित्य है। टीकाकारों ने 'कुलानि' का अर्थ सम्बन्धियों का समूह, मध्यस्थ पुरुष और पितृ परम्परा या कौटुम्बिक सम्बन्ध से बधे व्यक्तियों की सभा 'कर्षक' किया है।[1] इनकी व्याख्याओं से स्पष्ट होता है कि 'कुलानि' से तात्पर्य उस कर्मचारी से है, जो 8 या 10 ग्राम-समुदाय की सभा की अध्यक्षता करता और वृत्ति के रूप में एक कुल के अनुपात से भूमि लेता।[2] दामोदरपुर ताम्रपत्र में अंकित है कि 'विषयपति नगरश्रेष्ठी, प्रथम-कुलिक और प्रथमकायस्थ की सहायता ले।'[3] इसी प्रकार कुमारगुप्त प्रथम के शासन में 'ग्रामकुलाधिकरणम्' का उल्लेख हुआ है।[4] सांची के चन्द्रगुप्त द्वितीय के पाषाण स्तम्भ में पंचायत को 'पचमण्डली' कहा गया है।[5]

श्रेणी शब्द का अर्थ है 'समान पेशा या कार्य करनेवालों का संघ, चाहे वे विभिन्न जातियों के सदस्य हों।' व्यवहारमयूख (पृ० 280) ने कलाकारों एवं व्यापारियों के संघ को श्रेणी कहा है। पूग का अर्थ है 'एक स्थान के विभिन्न जातियों एवं पेशों के लोगों का संघटन'। व्यवहार प्रकाश ने (पृ० 30) गण और पूग को एक ही माना है। कात्यायन दोनों में अन्तर इस प्रकार करते हैं—'गण कुलों का संघ हैं और पूग व्यापारियों का संघ।'[6] याज्ञवल्क्य के अनुसार पूग, श्रेणी और कुल में कुल पहली सभा है और पूग सबसे उच्च।[7] इनमें क्रमशः विचार और पुनर्विचार होता है। इसपर टीका करते हुए सुबोधिनी ने लिखा है 'व्यवहार करने में समर्थ होने से नृप ही सबसे बलवान है और अन्य न्यायालय अपने सामर्थ्य के अनुसार दुर्बल और बली है।' यहां सामर्थ्य शब्द से स्पष्ट है कि राजा न्यायिक प्रशासन में सर्वोच्च है।[8] इतना अवश्य है कि इन न्यायालयों के संगठन में उसे

---

1. मनु० 7. 19. पर कुल्लूक और 8. 2. पर मेधातिथि।
   व्यवहार प्रकाश, पृ० 29; तथा अपरार्क, स्मृति चन्द्रिका, आदि।
2. *History of Darmashastra*, Vol. III, p. 290.
3. E. I., Vol. 15, p. 130.
4. R. I., Vol. 17, p. 348. and 348.
5. *Gupta Inscriptions*, p. 29, 31.
6. उद्धृत स्मृतिचन्द्रिका, पृ० 18; परा० मा० 3, पृ० 352; व्य० र०, पृ० 668.
7. अयाज्ञ० 2. 30.
8. एस० वरदाचार्य अपने पक्ष के समर्थन में कात्यायन के कुछ वचनों पर सन्देह व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार सामर्थ्य का अर्थ स्पष्ट नहीं है। वे उस

स्वतन्त्रता नहीं थी। वह इनके न्यायाधीश की नियुक्ति में कुछ नियमों की सीमा में बद्ध था। मुद्रिता और शासिता में राजा को संगठन-सम्बन्धी विपुल अधिकार थे। बृहस्पति के अनुसार 'कुलादि से साम्य, साम्यों से अध्यक्ष और अध्यक्षों से राजा अधिक अधिकार रखता है।'[1] कुल आदि न्यायालयों असन्तुष्ट होने पर राजसभा में प्रार्थना कर सन्तोष पाना चाहिए, क्योंकि वही अन्तिम न्यायालय है।[2] लेकिन छोटी सभा से राज सभा में सीधे विवाद न जाकर क्रम से ही जा सकता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्गीय न्यायालयों के साथ उनकी स्वतंत्रता की सुरक्षा करते हुए भी केन्द्रीय न्यायालय से सम्बन्ध था। वर्गीय न्यायालयों से विवाद न समाप्त होने पर उनके भी विषय अन्तिम रूप से केन्द्रीय न्यायालय में सुलझाये जाते थे और वह उनके विषय में सर्वोच्च न्यायिक संस्था थी।

कुल, श्रेणी, पूग आदि के प्रतिनिधि वणिक तथा अन्य व्यावसायिक संगठनों के के प्रतिनिधि, धनी, कुलीन, शीलवान आदि न्याय सुनने तथा देखने के लिए अधिकारी माने गये हैं। निर्णय में अपेक्षा होने पर उनसे भी मत लिया जाता और उसे निर्णय में महत्वपूर्ण स्थान रहता।[4] मृच्छकटिक में कायस्थ और श्रेष्ठियों को न्यायाधीश की सहायता करते हुए दिखाया गया है।

गुप्तकाल में न्यायालयों के लिए निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग किया जाता था—धर्माधिकरण, न्यायाधिकरण, धर्मशासनाधिकरण। मुख्य न्यायाधीश राजधानी में होता

पृ० 101 से लगातार।

बाल तक इन न्यायालयों से राजा के सम्बन्ध होने में ही सन्देह करते हैं; अतएव इस प्रकार की अस्पष्टता दिखायी पड़ती है। हिन्दू जूडिशियल सिस्टम, पृ० 92 वस्तुतः सामर्थ्य का उक्त अर्थ स्पष्ट है और धर्मसूत्रों के बाद राजा न्यायिक प्रशासन का प्रधान हो चुका था।

1. कुलादिभ्योऽधिकाः सम्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः।
   सर्वेषामधिको राजा धर्म यत्नेन निश्चितम्॥
   बृ० उद्धृत व्य० प्र०, पृ० 30.
2. पितामह, उद्धृत व्य० नि०, पृ० 15.
3. कुलादिक्रमेणैव व्यवहाराणां राजगामिता द्रष्टव्या।
   धर्मकोश 1, पृ० 41.
4. कुलशीलवयोवृत्तबहुभिरमत्सरैः। वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम्।
   श्रेणीशे वणिजस्तत्र कर्त्तव्या न्यायदर्शिनः।
   कात्या० उद्धृत, मिता० याज्ञ० 2. 2. पर।

था। न्याय विभाग के मुख्य अधिकारी को वैशाली मुद्रा-लेख के अनुसार विनय-स्थिति-व्यापक (नियम और व्यवस्था स्थापित करनेवाला) कहा गया था। प्रांतीय एवं जिलों की अदालतें उसके अधीन होती थीं। गांवों में पंचायत द्वारा न्याय का कार्य सम्पादित होता था।

न्यायकर्त्ता भी दण्ड के भागी होते थे, यदि उनके द्वारा अभियुक्त ठहराया गया व्यक्ति वास्तविक अपराधी नहीं होता था। मौर्यकाल के समान इस काल में न्यायाधीशों के हेतु कतिपय गुणों का उल्लेख किया गया है। न्याय धर्मशास्त्रों के आधार पर किया जाता था। हरिषेण, शिखर स्वमी आदि न्यायाधीश प्रचंड विद्वान थे।

गुप्त-लेखों में दण्डनायक, महादण्डनायक, सर्वदण्डनायक, महासर्वदण्डनायक आदि न्याय-पदाधिकारीयों के नाम मिलते हैं। वह संभव है कि महासर्वदण्डनायक सबसे बड़ी अदालत का न्यायाधीश हो तथा अन्य छोटी-छोटी अदालतों के पदाधिकारी (सब जज) हों। यह असम्भव नहीं है कि किसी अवसर पर राजा भी न्यायाधीश के आसन को पवित्र करता था। ..... राजा न्याय तथा दण्ड से सबको अपनी सीमा में रखता था। धार्मिक राजा देश, काल तथा पात्र का विचार कर दण्ड निर्धारित करता था।[1]

न्यायालयों में प्रमाण की आवश्यकता होती थी और साक्षी की भी। मनु ने न्याय में प्रमाणों को बहुत अधिक महत्व दिया है। उनका कथन है कि न्यायाधीश को न्याय करते समय प्रमाणों पर दृष्टि रखनी चाहिए। उसे प्रमाणों के आधार पर ही निर्णय करना चाहिए। विवादग्रस्त विवादों का परिज्ञान प्रमाणों के द्वारा ही हो सकता है। मनु ने प्रमाणों को दो कोटियों में विभक्त किया है—मानुष-प्रमाण तथा दिव्य प्रमाण। मनुः मानुष-प्रमाणों को तीन कोटियों में विभक्त किया है—लिखित प्रमाण, मुक्ति प्रमाण तथा साक्ष्य-प्रमाण। लिखित प्रमाणों को अधिक महत्व दिया गया है। मिथ्या साक्षी के लिए मनु ने दण्ड की व्यवस्था की है। याज्ञवल्क्य के अनुसार दानशील, कुलीन, सत्यवादी, धनवान, पुत्रवान, धर्मात्मा आदि व्यक्ति ही साक्षी के योग्य हो सकते हैं।

गुप्तकाल में दण्ड अत्यन्त सरल दिये जाते थे। फाहियान ने कहा है कि कानून अत्यन्त सरल थे। प्रजा में अपराध का नाम तक न था। प्राण-दण्ड तथा शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। उस समय अधिकतर अर्थदण्ड ही दिया जाता था। शारीरिक दण्ड देनेवाला 'दाण्डिक' कहलाता था।

---

1. वासुदेव उपाध्यायः गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 2, पृ० 12.

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त शासकों ने एक आदर्श न्याय-व्यवस्था का अनुसरण किया था, जिसमें और आधुनिक न्याय-व्यवस्था में अत्यधिक साम्य है। चन्द्रगुप्त-मौर्य की तरह कठोर कानून इस काल में नहीं था और न ही अंगच्छेद जैसी बर्बर प्रथा का प्रचलन था। नियम अत्यंत साधारण थे तथा दण्ड भी अत्यन्त सरल थे। अधिकतर जुर्मानों में ही दण्ड दिया जाता था। यद्यपि शारीरिक दंड देने की व्यवस्था थी परन्तु वह भी अत्यन्त सीमित मामलों में दिया जाता था। इसकी सत्यता फाहियान के कथन से स्पष्ट हो जाती है—'प्रजा प्रभूत एवं सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी तथा पंचायत कुछ भी नहीं है—राजा न तो प्राण-दण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड प्रदान करता है। अपराधी की अवस्थानुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थ-दण्ड प्रदान किया जाता है। बार-बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है।' इससे मालूम होता है कि गुप्तों के समय में न्याय-व्यवस्था बहुत उदार थी और लोग नियम का पालन करते थे।

पुलिस विभाग—अपराधों को कम करने के लिए या रोकने के लिए पुलिस की आवश्यकता होती है। मनुस्मृति में 2, 3 या 4 गाँवों के लिए एक सिपाही नियुक्त करने की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। पुलिस विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी दण्डपाशाधिकारणिक या दण्डपाशिक कहलाता था। पुलिस अधिकारियों में से अनेक की मुहरें वैशाली में मिली हैं। पुलिस के लिए चाट और भाट नामों का उपयोग गुप्तकालीन अभिलेखों में किया गया है। इस विभाग के अन्य कर्मचारियों में 'चोरोद्धरणिक' दूत (खुफियां पुलिस) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। फाहियान की चोर-डाकुओं से मुलाकात नहीं हुई थी, इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि पुलिस-प्रशासन बहुत उच्च कोटि का था।

हर्षकालीन जिला-शासन—

गुप्त साम्राज्य के पतनोपरांत भारतीय राजनीति में जो अस्थिरता आ गयी थी, हर्ष ने उसे दूर कर एक उचित शासन-व्यवस्था की स्थापना की। वह एक महान विजेता ही नहीं, वरन् एक कुशल शासनकर्त्ता एवं सुप्रबन्धक भी था। किन्तु प्रशासन के क्षेत्र में वह नयी व्यवस्था का जन्मदाता नहीं था। वह अनुकर्त्ता-मात्र था। उसकी शासन-व्यवस्था की आधारशिला गुप्त-शासन-व्यवस्था थी, जिसमें समयानुसार उसने परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया। मौर्य तथा गुप्तकाल की शासन-संस्थाओं तथा कर्मचारियों के नाम में कुछ अन्तर था, परन्तु गुप्त तथा हर्ष-काल के नामों और संस्थाओं में इस प्रकार का कोई अन्तर नहीं था।[1] राजा ही राज्य का

1. राखालदास बनर्जी, 'दि एज आव् दि इंपीरियल गुप्ताज'—दूसरा अध्याय, पृ० 69.

सर्वोच्च अधिकारी था और सिद्धान्ततः उसी के हाथ में राज्य की अन्तिम सत्ता थी। वह 'परमभट्टारक', 'महाराजाधिराज', 'एकाधिराज', 'चक्रवर्त्ती', 'सार्वभौम', 'परमेश्वर', 'परमदेवत', 'सम्राट्' आदि उपाधियों से विभूषित होता था।[1] राजा देवता माना जाता था और समझा जाता था कि धनद, वरुण, इंद्र, यम आदि विभिन्न देवताओं के गुण उसमें मौजूद हैं। अपनी सर्वप्रथम भेंट के समय श्री हर्ष का वर्णन करता हुआ बाण लिखता है कि 'वे सब देवताओं के सम्मिलित अवतार थे।[2] शासन-प्रबन्ध में सक्रिय भाग लेकर राजा राज्य के सभी उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता था, आज्ञा-पत्र एवं घोषणा-पत्र निकालता था, न्यायाधीश का काम करता था और युद्ध में सेना का नेतृत्व भी करता था। हर्ष "अधिक परिश्रमी था और दिन का विस्तार उसके कार्य के लिए सर्वथा स्वल्प था"।[3]

इन कार्यों के अतिरिक्त हर्ष का शासन-सम्बन्धी अधिक महत्वपूर्ण कार्य जनता के सुख-दुख का अनुसंधान द्वारा पर्यवेक्षण करना था। ह्वेनसांग हमें बताता है कि शीलादित्य ने अपनी पुर्वी यात्रा के सिलसिले में किस प्रकार कजंगल (राजमहल) में दरबार किया।[4] 'जयस्कान्धावार' में अनुसंधान के समय हर्ष रुका करता था। बसखेरा तथा मधुवन के लेखों में क्रमशः वर्धमान, कोटी तथा कवित्यक (संकाश्य) के जयस्कान्धावारों का उल्लेख मिलता है। बाण भी हर्ष से सर्वप्रथम अजिरावती नदी के तट पर मणितारा के जयस्कान्धावर में ही मिला था। हर्ष ने राजमहल, कन्नौज, प्रयाग, अवध, उड़ीसा, कश्मीर, वल्लभी, रेवा, गन्जाम आदि स्थानों की यात्रा की

---

1. 'परमभट्टारक महाराजाधिराज'—श्री हर्ष के लिए इस उपाधि का प्रयोग स्वयं उनके लेखों में किया गया है। 'परमेश्वर' उपाधि का प्रयोग पुलकेशी द्वितीय के लिए चालुक्य-लेखों में तथा श्री हर्ष के लिए 'हर्षचरित' में पाया जाता है। (देवः परमेश्वरो हर्षः—'हर्षचरित', पृ० 121। 'परमदेवत' उपाधि का प्रयोग कुमारगुप्त प्रथम के लिए हुआ है। फ्लीट के गुप्त 'इंस्क्रीप्शंस' के लेख नं० 33 में 'सम्राट्' उपाधि का प्रयोग हुआ है; 32 नं० के लेख में 'सर्वाधिराज' उपाधि का उल्लेख मिलता है। 'रत्नावली नाटक' में सार्वभौम' पद का प्रयोग किया है—मुकर्जी, 'हर्ष', पृ० 103।

2. 'सर्वदेवावतारमिवैकत्र'—'हर्षचरित', पृ० 113। बाण ने अन्य स्थलों पर उन्हें शिव, इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, जिन (बुद्ध) से श्रेष्ट ठहराया है—
'हर्षचरित' पृ० 131

3. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 343

4. वाटर्स, जिल्द 2, पृ० 183।

थी। इन सुदूर प्रदेशों की यात्राओं से उसे अपनी प्रजा की वास्तविक स्थिति का पता चलता था। उसने अपने नाटक नागानन्द में राजपद का आदर्श प्रस्तुत किया है। कादम्बरी में भी राजपद के आदर्श का उल्लेख है। राजा को न्याय का अवतार कहा गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य की तरह हर्ष का दैनन्दिन जीवन भी तीन भागों में बँटा हुआ था—एक भाग में वह शासन का कार्य देखता था और बाकी दो भागों में धार्मिक तथा नैतिक कार्यों का सम्पादन करता था। वह राज्य का उच्चतम अधिकारी था और अशोक की तरह वह भी अपना कार्यक्रम आप बनाता था। राजा के निजी अधिकारियों में प्रतिहार, विनयासूर, स्थापित, प्रतितर्दक, द्यूतक, लेखक आदि थे।

केन्द्रीय शासन की भूमिका—गुप्तकाल की तरह राजा ही केन्द्रीय शासन का प्रधान होता था। चीनी यात्री के अनुसार हर्ष पूरे दिन कार्य में लगा रहता था। वह बराबर दौरे पर जाता था और जनता की बातों को स्वयं सुनता था। राजा की सहायता के लिए मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था थी। मन्त्रिमण्डल के प्रस्ताव से ही वह राजा बना था। मन्त्रिमण्डल का अधिकार व्यापक था। केन्द्रीय शासन का कार्यालय राजधानी में रहता था। शासन-विषयक आदेशों का मुख्याधिकारी महाक्षपटलाधिकृत होता था। केन्द्रीय आदेश को ले जानेवाला अधिकारी दीर्घाध्वग कहलाता था। कर्मचारियों को नगद वेतन के स्थान पर गाँव दिये जाते थे। सामन्तवाद को इस प्रथा से बड़ा बल मिला। महासान्धिविग्रहिक और कुमारामात्यों का महत्व हर्ष के समय भी बना रहा। अन्य अधिकारियों में बलाधिकृत और महाबलाधिकृत का उल्लेख मिलता है। ह्वेनसांग ने हर्ष की सैनिक व्यवस्था का भी विवरण प्रस्तुत किया है। कर के रूप में भाग, हिरण्य और बलि का उल्लेख मिलता है। हर्ष स्वयं न्याय करता था। उसके समय शान्ति और व्यवस्था पहले जैसी नहीं रह गयी थी।

राजकीय कार्यों में सहायता देने के लिए मन्त्रियों की नियुक्ति की जाती थी, जिन्हें अमात्य या सचिव कहा जाता था। श्री हर्ष के युग में महामात्य शब्द का प्रयोग मन्त्री के अर्थ में प्रायः नहीं होता था। 'हर्षचरित' तथा हर्ष के दो लेखों में अनेक महामात्यों के नाम मिलते हैं। मन्त्रि परिषद् का उल्लेख तत्कालीन अभिलेखों में नहीं आया है, किन्तु कन्नोज की मन्त्रि-परिषद् का जो उल्लेख आया है उससे यह प्रकट होता है कि थानेश्वर में भी एक मंत्रिपरिषद् रही होगी। मौखरियों की मंत्रि-परिषद् का उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है। मंत्रि-परिषद् में सम्भवतः निम्न-लिखित अधिकारी हुआ करते थे—संधिविग्रहिक, अक्षपटलाधिकृत तथा सेनापति।

इन मंत्रियों का पद बड़ा महत्वपूर्ण था। मंत्रिपरिषद् का राजा के निर्वाचन में हाथ होता था और इसका प्रमाण स्वयं हर्ष ही है। परिषद् विदेश नीति भी निर्धारित करती थी।

हर्ष का प्रधान सचिव सम्भवतः उनका ममेरा भाई मांडी और संधिविग्रहिक अवंति था। सिंहनाद उसका सेनापति था। राजकुल की राजभक्तिपूर्ण सेवाओं के कारण उसने शासन में एक सम्मानित पद प्राप्त कर लिया था।[1] स्कन्दगुप्त हर्ष का दूसरा योग्य मंत्री था, जो गज-सेना का सेनापति था। उसने हर्ष को भ्रमपूर्ण असावधानी के खतरों[2] से सचेत किया था। हर्ष के लेखों में स्कन्दगुप्त को 'महासामन्त' और 'महाप्रमातार' कहा गया है। अश्वारोही सेना का सेनापति कुन्तल था। हर्ष की चलती हुई सेना का वर्णन करते समय बाण उन सेनापतियों (बलाधिकृत) का उल्लेख करता है, जो सेनावास के निरीक्षकों (पाटीपति) को एकत्रित करने में लगे थे।[3] सेना के कुछ अन्य पदाधिकारी भी थे। बसाढ़ (वैशाली) की एक मुहर में रण-भांडागार विभाग (रणभांडागाराधिकरण) का उल्लेख मिलता है।[4]

दानपत्रों पर भी हर्ष के पदाधिकारियों की सूची प्राप्त होती है। वह इस प्रकार है—दौस्साधसाधनिक, प्रमातार, राजस्थानीय, कुमारामात्य, उपरिक तथा विषयपति।

---

1. समग्रविग्रहाग्रहरः हरितालशेलावदातदेहः परिणतप्रगुणसाल प्रकांडप्रकाशः प्रांशुरतिशौर्योष्मणेव परिपाकमागतो—'हर्षचरित'—पृ० 257

2. प्रमाददोषमिषंगेषु बहुश्रुतवार्त्त एव प्रतिदिनंदेवः-'हर्षचरित',

—पृ० 268

बाण ने स्कन्दगुप्त का वर्णन जिस पद में किया है, उसमें गजों के सम्बन्ध में कई रोचक बातें मिलती हैं—उदाहराणार्थ उसमें लिखा है कि गणिका की सहायता से अरण्यपाल हाथियों को पकड़ते थे, नाग वन के रक्षक होते थे, जो नाग वा-वीधिपाल कहलाते थे।

'हर्षचरित', पृ० 2 तथा आगे।

3. बलाधिकृतवाध्यमानपाटीपतिपेटकैः—'हर्षचरित', पृ० 275

4. द्रष्टव्य, 'आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट 1903-1904। बाण ने सेना का जो वर्णन किया है, उसमें 'सममांडायमान भांडागारिणि' पद मिलता है, भंडारी (रण) भडार की सामग्रियों को एकत्रित करते थे—

देखिए 'हर्षचरित' पृ० 276.

उपरिक प्रांतों अथवा मुक्तियों के शासक थे।[1] कुमारामात्यगण साम्राज्य के उच्च श्रेणी के कर्मचारी थे। कुमारामात्य का पद, साधारण राजकुमार युवराज अथवा कभी-कभी सम्राट् (परममट्टारक) के समान होता था।[2] किन्तु कुमारामात्य प्रधानतः उन प्रांतों में काम करनेवाले पदाधिकारी होते थे, जहां राजकुमार शासन करते थे। इसी प्रकार शुंग काल में राज-प्रतिनिधि के रूप में शासन करनेवाले राजकुमारों की सहायता के लिए अनेक महामात्य रहते थे।[3] राजस्थानिय का उल्लेख वलभी के दान-पत्रों में भी मिलता है, इस शब्द का समानार्थक शब्द 'वायसराय' हो सकता है, यह महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख में उल्लिखित 'राष्ट्रीय' शब्द का अनुरूप है। विषयपति जिला-पदाधिकारी होते थे। दान-पत्रों में दूतक नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है। लेखक नामक पदाधिकारी का भी इन दान-पत्रों में उल्लेख किया गया है। इसे कहीं-कहीं दीवर कहा गया है। अनेक दीविरों के ऊपर एक दीविरपति होता था।[4]

राजा के प्रधान अमात्य साधारणतः बड़े-बड़े सामंत होते थे।[5] स्कन्दगुप्त, ईश्वरगुप्त आदि महाराजे हर्ष के अमात्य, महाराजा, सामंत अथवा महासामंत थे। सभी सामंत मन्त्री नहीं होते थे। सामंत सम्राट के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए

1. बसाढ़ (वैशाली) की एक मुहर में निरमुक्ति (आधुनिक निरहुत) के उपरिक का उल्लेख है। दामोदरपुर के लेखों में भी 'उपरिक' शब्द का प्रयोग प्रांतीय शासक के अर्थ में किया गया है। द्रष्टव्य, 'एपिग्राफिका इन्डिका', जिल्द 1; पृ० 345 और आगे; जिल्द 15, पृ० 113 और आगे।
2. राखालदास बनर्जी, दि एज आफ दि इंपीरियल गुप्ताज' पृ० 72
3. देखिए, रायचौधुरी 'पोलिटिकल हिस्ट्री आँफ एंशियंट इडिया', पृ० 2, पादटिप्पणी न० 2.
4. वह कभी-कभी संधि-विग्रहिक होता था। धरसेन के लेख में (द्रष्टव्य, फ्लीट, गुप्त इन्स्क्रीप्शंस न० 38) राजकुमार खरग्रह को दूतक लिखा गया है। इसी प्रकार अशु वर्मा के लेख में (द्रष्टव्य, ऐंटावेरी जिल्द 60, पृ० 70), जिसे वैद्य ने अपने ग्रंथ 'मेडीएवल इंडिया', जिल्द 1, पृ० 400 में उद्धृत किया है।) दूतक राजकुमार दयदेव है।
5. ह्वेनसांग का कथन है कि राज्य के मन्त्रियों तथा साधारण कर्मचारियों के वेतन का भुगतान वस्तु-रूप में किया जाता था, उन्हें नकद वेतन नहीं मिलता था। (द्रष्टव्य, वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 176) इस प्रकार ज्ञात होता है कि मध्यकालीन भारत की जागीर-प्रथा हर्ष के समय में भी प्रचलित थी।

उनके चारो ओर जमा होते थे। वे राजा के दरबारी थे और अपने-अपने पद के अनुसार उन्हें दरबार अथवा सभा में स्थान प्राप्त था। बाण ने इस प्रकार के दरबार करते हुए महाराज हर्ष का उल्लेख किया है।[1] सामंतगण राज्य के सभी अवसरों पर राजा की सेवा में लगे रहते थे, वे राजा के साथ युद्ध में जाते थे और बहुधा राज्य के उच्च पदों पर काम करते थे। इस सम्बन्ध में हर्ष के ममेरे भाई मांडी का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

हर्ष के लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि फौजी और दीवानी कर्मचारियों के बीच कोई भेद नहीं किया गया था। उन दिनों राज्य के सभी अमात्य बड़े-बड़े सैनिक भी हुआ करते थे। हमें यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि अशोक तथा शुंग-वंशीय राजाओं की भांति श्री हर्ष के पास भी कोई केन्द्रीय मन्त्रि-परिषद् थी अथवा नहीं, अधिक सम्भावना इस बात की है कि इस समय तक वह संस्था लुप्त हो चुकी थी। किन्तु तो भी राजा सब काम अनियंत्रित रूप से नहीं करते थे। उनके मन्त्री सदैव अपने बुद्धिमत्तापूर्ण परामर्शों द्वारा उनका पथ-प्रदर्शन करते थे। सम्भवतः गुप्त राजाओं के समय में प्रचलित रीति के अनुसार महामात्यों का पद मौरूसी (वंश-परम्परागत) रहा हो।[2] एक ही व्यक्ति अनेक पदों का अधिकारी होता था। उदाहरणार्थ, समुद्रगुप्त के समय में हरिसेन उसका सन्धि-विग्रहिक, कुमारामात्य[3] तथा महादण्डयक तीनों था।

केन्द्रीय शासन का महत्वपूर्ण अंग लेख-विभाग था। ह्वेनसांग लिखता है कि जहांतक उनके कागज-पत्रों तथा लेखों का संबंध है, उनके अलग-अलग निरीक्षक हैं। सरकारी इतिहास तथा कागज-पत्रों का सामूहिक नाम 'नीलपिट' है। उनमें भले

---

1. बाण ने मणितारा के शिविर में महाराज हर्ष से भेंट की थी। वहां उसने हर्ष को चौथे कक्ष में, जहां कि वे आगतों को दर्शन देते थे, बैठे हुए देखा। वे एक सशस्त्र पार्श्वरक्षक दल से परिवेष्ठित थे (शास्त्रिण मौलेन शरीर परिवार कलोकेन पंक्तिस्थितेन परिवृतम्)। अन्य तीन कमरे सामन्त राजाओं से भरे थे, जो स्पष्टतः महाराज हर्ष से भेंट करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे।
'हर्षचरित', पृ० 110, पृ० 97 भी देखिए।
2. रायचौधुरी-'पौलीटिकल हिस्ट्री आफ इन्डिया', तृतीय संस्करण, पृ० 380।
3. यहाँ पर कुमारामात्य शब्द का अर्थ संभवतः राजकुमारों की देखरेख करने-वाला मन्त्री है। मौर्यकालीन शासन में भी इस पदाधिकारी का पता चलता है।

और बुरे सब का उल्लेख किया जाता है और सार्वजनिक आपत्ति तथा सुकाल का लेखा विस्तार के साथ किया गया है।[1]

अन्य दीवानी के पदाधिकारियों में राज-कुटुम्ब के कर्मचारी सम्मिलित थे। उनमें से एक महाप्रतीहार था, जो राजमहल का प्रधान रक्षक था। महाराज हर्ष के प्रधान प्रतीहार का नाम पारियात्र था। महाराज उसको बहुत मानते थे।[2] इसके अतिरिक्त राज-कुटुम्ब का एक कर्मचारी कंचुकी भी था, जो ब्राह्मण जाति का एक वृद्ध व्यक्ति होता था। कंचुकी सभी कामों में कुशल होता था, उसे वेत्री भी कहते थे। वेत्री का उल्लेख बाण के "हर्षचरित' में मिलता है।[3] गुप्तकाल के लेखों में हमें राज-कुटुम्ब के कुछ अन्य कर्मचारियों के नाम उपलब्ध होते हैं; यथा, स्थपति सम्राट्, स्त्रियों का अध्यक्ष तथा प्रतिनर्तक।[4] प्रतिनर्तक मांगध अथवा बंदी होता था।

इनके अतिरिक्त पुरोहित का भी स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता था। हर्ष के जन्म के अवसर पर नवजात शिशु को आशीर्वाद देने के लिए हाथ में फूल तथा शुद्ध जल लेकर उसके अन्तःपुर की ओर जाने का उल्लेख मिलता है।[5] राजा पुरोहित से अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों में मंत्रणा करता था। इनके अलावा राजमहल में ब्रह्मवादी मुनि तथा "पौराणिक" दल भी पाये जाते थे।

मन्त्रियों के दर्जे से नीचे के कतिपय राजकर्मचारियों का भी उल्लेख आया है। कौटिल्य ने उन्हें अपने अर्थशास्त्र में 'अध्यक्ष' लिखा है। गुप्तकाल के लेखों में उनका उल्लेख उसी नाम से किया गया है। बाण ने 'आयुक्तक' नामक पदाधिकारी का उल्लेख किया है,[6] जो सम्भवतः विषयपति अथवा जिलाधीश के पद पर कार्य करता

---

1. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 154।
2. एष खलु महाप्रतीहाराणामनंतरश्चक्षुष्योदेवस्य पारियात्रनामा दौवारिकः—
'हर्षचरित', पृ० 99.
3. देखिए, क्वचित्तलवर्विवेत्रीवेत्रविन्नास्मान·····इत्यादि·····
'हर्षचरित', पृ० 287.
4. 'कारपस इंसक्रिप्टिओनुप इंडिकारुम',
(लेख न० 27 तथा 39) पृ० 119
5. साक्षाद्धर्म इव शांत्युदकफलहस्तस्तस्थौ पुरः पुरोधाः—हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास, पृ० 185. महाराज प्रभाकरवर्द्धन की अर्घी को सामन्त तथा परिजन अपने कन्धों पर ले गए थे। सबके आगे राजकुटुम्ब का पुरोहित था, (हर्षचरित, पृ० 235) निस्संदेह वह एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था।
6. अतिक्रान्तायुक्तकशतानि च शंसद्भिः।

था। वलभी तथा गुप्तवंश के राजाओं के लेखों में 'आयुक्तक' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है।[1] बाण द्वारा उल्लिखित दूसरा कर्मचारी भोगपति था, जो कि करों का संग्रह करता था।[2] दान-पत्रों में भी 'भोगिक' नामक एक बड़े अफसर का उल्लेख मिलता है। वह अमात्य के दर्जे का पदाधिकारी था और बहुधा भूमि-संबंधी दान-पत्रों को जारी करता था। सम्भवतः वह मालगुजारी का एक अफसर था।[3]

केन्द्र प्रांतों में विभक्त था। प्रान्त मुक्तियों में विभक्त था और मुक्ति विषयों में। मुक्ति के अन्तर्गत अनेक प्रदेश अथवा विषय होते थे। प्रदेश अथवा विषय की तुलना आधुनिक जिले से की जा सकती है। विषय के मुख्य अधिकारी को, जो विषयपति कहलाते थे, प्रान्तीय नियुक्त करते थे। अतः उन्हें 'तन्नियुक्ताः' (उनके द्वारा नियुक्त) कहा गया है। कभी-कभी वे सीधे सम्राट् के द्वारा भी नियुक्त किये जाते थे।[4] हर्ष के समय में अहिच्छत्र-मुक्ति में अंगदीय विषय और श्रावस्ती-मुक्ति में कुंडवानी विषय का उल्लेख मिलता है। विषय के अनेक पाथक होते थे। 'पाथक' वर्त्तमान तहसील की ही भांति एक छोटा भू-भाग था। पाथक ग्राम में बटा था।

विषयपति विभिन्न जातियों के व्यक्ति थे। वे ब्राह्मण भी होते थे—जैसे, फरीदपुर के लेखों के अनुसार गोपालस्वामी वराकमण्डल का विषयपति था। विषयपतियों की राजधानियां 'अधिष्ठानों' में होती थी। इन 'अधिष्ठानों' में उनके अधिकरण (अदालतें और आफिस) थे। कुछ अधिकरणों का उल्लेख हमें बसाढ़ (वैशाली) की मुहरों में उपलब्ध है—(क) वैशाल्याधिष्ठानाधिकरण वैशाली नगर में स्थित विषयाधिपति के कार्यालय का

---

1. द्रष्टव्य, वाकाटक-वंश के राजा प्रवरसेन का दान पत्र ('कारपस इंसक्रप्टियोनुम इंडिकारुम' जिल्द 3, पृ० 237), जिसे सीत्रो० वैद्य ने अपने ग्रंथ 'मेडीएवल इंडिया' जिल्द 1, पृ० 150 में उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त 'कारपस इस्क्रृप्टियोनुम् इंडिकारुम' जिल्द 3. पृ० 166 भी द्रष्टव्य है।
2. असतोपि पूर्वभोगपतिदोषानुद्भावयद्भिः—'हर्षचरित' पृ० 286
3. सी० वी० वैद्य, मिडिएवल इन्डिया, जिल्द 1, पृ० 149.
4. बसाक, 'हिस्ट्री ऑफ नार्थ ईस्टर्न इन्डिया' पृ० 309.
   इन्होंने बैग्राम के लेख का प्रमाण उद्धृत किया है। इस लेख के लिए देखिये 'एपिग्राफिका इन्डिका' जिल्द 21, भाग 2, पृ० 80.
   —कुछ मुक्तियों के नाम इस प्रकार हैं—अहिक्षत्र मुक्ति, श्रीवस्ती मुक्ति, तीरमुक्ति, प्राग्ज्योतिष मुक्ति, श्रीनगर मुक्ति इत्यादि—प्रान्ताधिप लोकपाल के नाम से प्रसिद्ध था।

निर्देश करता है, (ख) उपरिकाधिकरण से प्रान्तीय शासक के कार्यालय का बोध होता है, (ग) कुमारा-मात्याधिकरण का अर्थ कुमारामात्य (कुमार या राजकुमार का मन्त्री) का कार्यालय है। कुमारामात्य कभी-कभी विषयपति के पद का अधिकारी होता था जबकि कुमार स्वयं प्रान्त का शासक होता था।[1] (घ) रणभांडागाराधिकरण[2] से सैनिक भांडागार के प्रधान स्वामी के कार्यालय का तात्पर्य है (च) विनय-स्थितिस्थापकाधिकरण[3] सदाचार के स्थापक का कार्यालय है। (छ) दंडपाशाधिकरण का अर्थ पुलिस के प्रधान पदाधिकारी का कार्यालय है।

प्रान्तीय शासकों तथा जिले के शासकों की सहायता के लिए दांडिक, चोरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि पुलिस के कर्मचारियों की भी व्यवस्था की गयी थी। गुप्तकाल की तरह सम्भवतः विषयपति की एक मन्त्रि-परिषद् होती थी, जिसकी सहायता से वह विषय का शासन करता था। ऐसा विदित होता है कि इस परिषद् के चार सदस्य होते थे, जो अपनी समिति के मुखिया होते थे। दामोदरपुर के ताम्रलेखों में पांच विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है। इनमें से चार निम्नांकित हैं—

1. नगर-श्रेष्ठी—नगर के पूँजीपतियों के मुखिया को नगर-श्रेष्ठी (सेठ जी) कहा जाता था।
2. सार्थवाह- यह विषय की व्यापारिक समिति का मुखिया होता था।
3. प्रथम कुलिक—स्वर्गीय डा० राखालदास बनर्जी के अनुसार (बैंकरों) साहूकारों के संघ का प्रधान, अथवा श्रीयुक्त बसाक के अनुसार विभिन्न शिल्प-श्रेणियों का प्रतिनिधिस्वरूप प्रधान शिल्पी था।
4. प्रथम कायस्थ—लेखक-समिति का अध्यक्ष प्रथम कायस्थ कहलाता था।

'हर्षचरित' में एक कर्मचारी का और नाम आया है, जिसे 'पुस्तकृत' कहा गया है। सम्भवतः यह वही कर्मचारी था, जो गुप्तकाल में पुस्तपाल कहलाता था तथा जिसका कार्य राज्य के समस्त लेखों को सुरक्षित रखना था। जिला-शासन के अंतर्गत भी लेखा रखने का काम बड़ा महत्त्वपूर्ण था। विषयाधिकरण से मिला हुआ

---

1. दामोदरपुर का गुप्त संवत् 124 का ताम्रलेख हमें बतलाता है कि पुण्ड्रवर्धन के वायसराय चिरातदत्त के अधीन प्रत्येक विषय में एक कुमारामात्य था।
2. द्रष्टव्य, बसाढ़ की मुहर न० 13
3. द्रष्टव्य, बसाढ़ की मुहर न० 14

लेखा रखनेवाले कर्मचारियों का एक दल अवश्य ही रहा होगा।[1] गुप्तकालमें विषयों के पुस्तपालों की संख्या तीन थी।

जिलाधीश इत्यादि के पास केन्द्रीय सरकार के शासनादेश ले जानेवाले अधिकारी 'दीर्घध्वग' नाम से निर्दिष्ट किये गये हैं।[2] हर्षचरित में 'सर्वगत' नाम के अधिकारी का भी उल्लेख आता है। सम्भवतः वह गुप्तचर दल का अधिकारी था। यह दल मौर्यकाल में सर्वत्र संचरण करता था। हर्ष शासन में भी अज्ञात न होगा। यदि ह्वेनसांग का कथन विश्वसनीय हो, तो हमें मानना पड़ेगा कि मन्त्री एवं उच्चाधिकारियों को नकद वेतन के स्थान पर गांव दिये जाते थे। निचली श्रेणियों के अधिकारी कभी नकद वेतन पाते थे और कभी जमीन। इस प्रकार सामन्तवाद का बीजारोपण हर्ष के समय हुआ प्रतीत होता है। विषयपतियों का हर्ष के शासन-काल में बड़ा महत्व था। वे अपने जिले की सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था के लिए प्रयास करते थे।

विषय-शासन के अन्तर्गत नगर शासन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु ग्राम अथवा ग्राम-समूह के अधिकारियों की विस्तृत सूची इस काल के उत्कीर्ण लेखों में पायी जाती है। ग्राम अब भी शासन की न्यूनतम इकाई था। ग्राम के अधिकारियों में 'महत्तर' नामक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः गांव के सब मामलों की देखभाल करता था। किन्तु यह राज्य की ओर से नियुक्त वैतनिक पदाधिकारी था अथवा ग्राम का सम्मानित व्यक्ति, इसका ठीक-ठीक पता नहीं है। बाण लिखता है कि गांव के आग्रहारिक और उनके आगे-आगे वृद्ध महत्तर, जल का घड़ा उठाये और टोकरियों में दही, गुड़, खांड तथा फूल के उपहार लिए महाराज हर्ष के दर्शन और अपनी फसलों की रक्षा हेतु प्रार्थना करते हुए आगे बढ़े चले आ रहे थे। इस पद में आग्रहारिकों से तात्पर्य जागिरदारों से हैं, किन्तु अन्य स्थलों पर इस शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के अर्थ में हुआ है, जो देवताओं तथा ब्राह्मणों के नाम दान किये हुए किसी गांव का प्रबंधक होता था।[3]

---

1. बसाक, पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशियंट इन्डिया, पृ० 308-315.
2. हर्षचरित, पृ० 87.
3. आग्रहारिकाजात्यैश्च पुरः सरजरन्महत्तरोत्तम्भिताम्भः कुम्भैरुपायनी कृतदधि गुडखण्ड कुसुमकरण्डकैः सरभसं समुत्पसद्भिः—'हर्षचरित', पृ० 286.

'महत्तर'[1] की तुलना गांव के मातबरों से की जा सकती है, जो गांव के बड़े-बड़े गृहपति होते हैं और ग्राम-संबंधी मामलों में जिनकी बात का बड़ा प्रभाव पड़ता है। गांव का दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकारी अक्षपटलिक कहलाता था। इसकी नियुक्ति सरकार द्वारा होती थी तथा यह कर्मचारी गांव के महत्त्वपूर्ण विषयों का लेखा रखता था। एकबार जब महाराज हर्ष एक गाँव से होकर जा रहे थे, ग्राम का अक्षपटलिक अपने करणिकों (क्लर्कों) के साथ उनके सामने गया और बोला, "जिन महाराज की राजाज्ञा कभी विफल नहीं जाती, उन्हें हमलोगों को आज के लिए अपनी आज्ञा देनी चाहिए।[2] इतना कहकर उसने नयी बनी हुई एक सोने की मुहर भेंट की, जिसपर वृष की मूर्त्ति बनी हुई थी। इस भेंट का क्या अर्थ था, यह बाद में जो कुछ किया गया, उससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। एक छोटा-सा मृत्तिका पिण्ड मंगाया गया और उसे राजकीय मुहर से अंकित किया गया। इसके पश्चात् राजमुद्रा से चिह्नित मिट्टी की मुहर को आग में तपाकर उन शासन-पत्रों पर उसका उपयोग किया जाता जिनपर राजकीय आज्ञा लिखी जाती। इस कर्मचारी की तुलना आधुनिक ग्रामों के पटेल तथा पटवारी से की जा सकती है।[3]

चाट और भट कहलानेवाले व्यक्तियों का एक और वर्ग था। ये लोग ग्राम-निवासियों को सताते और उनके साथ बुरा बर्ताव करते थे।[4] चाट सम्भवतः पुलिस के कर्मचारी होते थे, जो ग्रामों में अमन-चैन कायम रखने के लिए राजा की ओर से नियुक्त होते थे। भट वे सैनिक थे जिन्हें सैनिक कार्य से छुट्टी रहती थी। वे कभी-कभी अपनी स्थिति से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश करते थे तथा ग्रामिणों को सताकर अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ ले लेते थे।

---

1. कावेल एण्ड टामस—'हर्षचरित' परिशिष्ठ बी०, पृ० 274 जिसमें 'फ्लीट के गुप्त लेख' (पृ० 52, नोट 2, पृ० 257, 1-12) को उद्धृत किया गया है। और देखिये—महत्तरों का उल्लेख दामोदरपुर के ताम्रलेखों में किया गया है।
   डा० मुकर्जी, 'हर्ष' पृ० 108
   बसाक, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्थ-ईस्टर्न इंडिया, पृ० 113।
2. बसाक, 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नॉर्थ ईस्टर्न इंडिया' पृ० 113।
3. तत्रस्थस्य चास्य ग्रामाक्षपटलिकः सकलकरणिपरिकरः करोतु देवः दिवस ग्रहणमद्येवावंध्यशासन इत्यभिधाय वृषांकामभिनवघटितां हाटकमयीं मुद्रां समुपनिन्ये जग्राह च तं राजा—'हर्षचरित', पृ० 274.

महाराज हर्ष ने अपने 42 वर्षों के शासन काल में एक सुदृढ़ शासन-प्रणाली को जन्म दिया, जो पुनः उसकी मृत्यु के बाद समाप्त हो गयी। शासन सामन्तवादी व्यवस्था पर आधारित था। गुप्त युग में जिस सामन्तवादी व्यवस्था का बीजारोपण हुआ, उसे हर्ष ने पूरा कर दिया और सामन्तवाद अब राज्य-व्यवस्था का एक अभिन्न अंग बन गया। चीनी यात्री के अनुसार हर्ष का शासन उदार सिद्धांतों पर आधारित था और लोगों से बलात् बेगार नहीं लिया जाता था। किन्तु उसी साधन से हम यह भी जानते हैं कि नकद वेतन के बदले अब सरकारी कर्मचारियों को जमीन दी जाती थी। हर्षचरित में सामन्त का जिस ढंग से विश्लेषण हुआ है उससे तो स्पष्ट हो जाता है कि सामन्त-पद्धति प्रौढ़ावस्था में पहुँच चुकी थी। हर्ष का शासन हर्ष का अपना बनाया हुआ था और उसके बाद ही उस शासन का नामोनिशान मिट गया, परन्तु सामन्तवादी व्यवस्था उसके बाद और भी विकसित हुई।

हर्ष के शासन पर गुप्त-शासन की छाप तो स्पष्ट है, परन्तु यहाँ स्मरण रखने की बात है कि हर्ष ने इसे नये सिरे से संगठित किया था। हर्ष के बाद इसको चलानेवाला कोई नहीं रहा, अतः उसी के साथ यह समाप्त भी हो गया। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि हर्ष बराबर घूमता रहता था और स्थान-स्थान पर जयस्कन्धावार भी होते थे, इसलिए हर्ष के शासन-काल में किसी स्थायी राजधानी का न तो निर्माण सम्भव हो सका और न उसकी स्थिति ही जम सकी। जबतक वह स्वयं जीवित रहा, तबतक तो बात ठीक रही, परन्तु (उसके मरने के बाद ही उसका साम्राज्य ताश के महल की तरह ढह गया। इस कमजोरी का एक बड़ा कारण यह भी है कि हर्ष को अपने सामन्तों पर निर्भर करना पड़ता था और उसने जो प्रथा चला दी, उससे सामन्तों की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई और उसके बाद सामन्तवाद के विकास और उसकी प्रगति में इससे काफी सहायता पहुँची।

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय इतिहास में हर्ष का अपूर्व योगदान रहा, क्योंकि उसने साधारण स्थिति से एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जो उसी

---

113. पृष्ट से लगातार

अक्षपटल का उल्लेख लेखों में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'कार्पस इंसक्रिप्टियोनुम्' इन्डिकारूम के पृ० 27 में उसका उल्लेख है। उसमें 'अन्य ग्रामाक्ष पटलाधिकृत' पद आता है और उससे सूचित होता है कि अक्षपटल प्रत्येक गांव में नियुक्त किया जाता था—वैद्य, 'मिडिएवल इंडिया' जिल्द 1, पृ० 131.

4. भूमि-संबंधी दानपत्रों में 'अमटचारटप्रवेश्य' पद अनेक बार मिलता है। इस पद का अर्थ यह है कि (अमुक भूमि में) भट और चाट प्रवेश नहीं कर सकते।

के साथ उठा और गिरा। न तो उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य की सामरिक कुशलता थी और न अशोक की आदर्शवादिता ही, फिर भी वह भारतीय इतिहास का एक आकर्षक शासक रहा है। उसके शत्रु शशांक तथा पुलकेसिन भीपु पूर्णरूपेण उससे पराजित नहीं हुए, तथापि उत्तरापथ में 42 वर्षों तक उसका आधिपत्य बना रहा और उसने इतिहास पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ दी। संसार के महान शासकों के साथ उसकी तुलना होती है। परन्तु एक बात स्मरणीय है कि वह स्वयं सब कुछ का निर्माता था और उसके साथ ही सब कुछ उठ भी गया। न तो उसके साथ कोई पृष्ठभूमि थी और न उसके बाद कोई ऐसा महत्वपूर्ण शासक ही उस वंश में हुआ, जो उसकी कृति को आगे बढ़ाता या स्थायीत्व प्रदान करता। हो सकता है कि उसके दानपरक कार्य से समन्वय की भावना को बल मिला हो और स्वार्थपरता, संकीर्णता और अनुदारता पर अंकुश लगा हो, परन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि उसके दानबाहुल्य से उसका शासन शिथिल हो गया था और राज्य की स्थिति पर इससे धक्का लगा था। उसके बाद कान्यकुब्ज साम्राज्य का इतिहास अन्धकार के गर्त में चला गया। संभव है, कुछ दिनों तक मौखरियों का शासन रहा हो, परन्तु लगभग 100 वर्षों तक का कन्नौज का इतिहास अब भी अप्राप्त है।

राजस्व-विभाग—राज्य की आय का सबसे मुख्य साधन कर था। कर-व्यवस्था सामान्य थी। सरकारी आय के मुख्य स्रोत थे—(1) उद्रंग (भूमिकर), (2) उपरिकर, नियमित कर से अतिरिक्त कर, (3) वात (?), (4) भूत (?), (5) धान्य, (6) हिरण्य (सोना), (7) आदेय आदि। इनके अतिरिक्त दूध, फल, चारागाह, खनिजों आदि पर भी कर लगाया जाता था। अनाज की मण्डियों में बिकी हुई वस्तुओं के नाप-तौल के आधार पर निर्धारित कर-संग्रह किया जाता था।[1] घाटों पर भी कर लगता था और कर वसूल करनेवालों को शौल्किक कहते थे। शौल्किक सम्भवतः विक्य का कर्मचारी होता था। जुर्माना से भी अच्छी आय हो जाती थी। भूमि की उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। कर नकद तथा उपज—दोनों ही रूपों में दिया जा सकता था। राज्य की सबसे बड़ी आमदनी भूमि से होती थी। सारी भूमि के पर्यवेक्षण और माप की नियमित व्यवस्था थी। खेतों की सीमा निर्धारित होती थी। पर्यवेक्षण विभाग के मुख्य अधिकारी को प्रमाता कहा जाता था। इसके अतिरिक्त, सीमा-प्रदाता और न्यायकर्णिक होते थे। भूमि-सम्बन्धी कागजात सुरक्षित रखे जाते थे। सिंचाई के लिए आवश्यकतानुसार सरकारी प्रबन्ध होता था। व्यापार

1. द्रष्टव्य, मधुवन के लेख में प्रयुक्त 'तुलयमेय' शब्द।

की वस्तुओं पर स्थान-स्थान पर चुंगी और घाटों पर खेवा[1] लिया जाता था। ह्वेनसांग का कथन है कि लोगों पर करों का भार अधिक न था, किन्तु इसपर पूरा विश्वास करना कठिन है। अनेक वर्षों तक हर्ष हमेशा युद्ध में फंसा था एवं उसका सैन्य विशाल था। इसलिए लोगों पर करों का बोझ भी हल्का न होगा।[2] राजकीय कर वसूलने का कार्य विषय-शासन के अन्तर्गत था। शौल्किक, चाट और भट आदि कर वसूलने का कर्य करते थे।

जब किसी व्यक्ति को भूमि दान की जाती थी, तब वह 'उद्रंग' आदि करों से मुक्त कर दी जाती थी। यही नहीं, वह बेगार (विष्ट) से भी मुक्त घोषित कर दी जाती थी। चाट और भट वहाँ प्रवेश नहीं कर सकते थे। जो लोग सरकारी नोकरी करते थे, उन्हें उनके काम के अनुसार वेतन दिया जाता था। राज्य के मन्त्री तथा साधारण कर्मचारियों को पारिश्रमिक रूप में जागीर दी जाती थी।[3] कुटुम्बों का लेखा नहीं रखा जाता था। किसी से बेगारि नहीं कराया जाता था।

राजकीय आय को बड़ी उदारता से व्यय किया जाता था। वाटर्स ने लिखा है—"राजकीय भूमि के चार भाग थे—एक भाग राज्य की ओर से की जानेवाली पूजा-उपासना तथा सरकारी कार्यों में व्यय होता था; दूसरे भाग से बड़े-बड़े सार्वजनिक कर्मचारियों की धन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति की जाती थी; तीसरा भाग प्रकाण्ड विद्वानों को पुरस्कार देने के निमित था और चौथा भाग विभिन्न सम्प्रदायों को दान देकर पुण्यार्जन करने के लिए था।"[4]

पुलिस विभाग—आन्तरिक सुरक्षा और शान्ति के लिए हर्ष ने पुलिस विभाग का भी संगठन किया। इस विभाग में दण्डपाशिक (डण्डे और रस्सी रखनेवाले सिपाही), दण्डिक, (केवल दण्डवाले), चोरोद्धरणिक (चोरों का पता लगानेवाले) आदि कर्मचारियों का उल्लेख मिलता है। हर्षचरित में यामचेटि का उल्लेख है; यह रात में पहरा देनेवाली स्त्री होती थी। इन प्रकट रक्षिणों के अतिरिक्त गुप्तचर भी

---

1. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 176.
2. "But when one considers how Harsha was for a long time engaged in warfare and was maintaining a huge army, one is inclined to doubt the literal truth of the above statement.
—Altekar; **State and Government in Ancient India**, p. 354.
3. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 177.
4. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 170.

होते थे, जो छिपकर अपराधों का पता लगाते थे और न्याय तथा शासन में सहायता पहुँचाते थे। सम्भवतः ये लोग विषय (जिला) के कर्मचारी थे, जो शान्ति एवं सुरक्षा के लिए केन्द्र की तरफ से नियुक्त किये गये थे। परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि जितनी शान्ति और सुरक्षा का प्रबन्ध गुप्त-काल में था, उतना हर्ष के समय में नहीं। जबकि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में आनेवाला चीनी यात्री फाहियान निर्विघ्न यात्रा करता रहा, हर्षकालीन ह्वेनसांग के सामान को कई बार चोरों और लुटेरों ने छीन लिया था।

न्याय विभाग और दण्ड-नीति—फौजदारी का शासन अत्यन्त कठोर था। 'राजद्रोह के लिए आजीवन कारावास का दण्ड दिया जाता था।' सामाजिक सदाचार के प्रतिकूल आचरण करने, माता-पिता के साथ अनुचित व्यवहार करने तथा विश्वास-घात करने पर (एक नाक, एक कान, एक हाथ या एक पैर का) अंग-भंग कर दिया जाता था। देश-निर्वासन तक का भी दण्ड दिया जाता था। अन्य अपराधों के लिए जुर्माना किया जाता था।[1] अंगच्छेद का उल्लेख बाण भी करता है, परन्तु उसके अलंकारपूर्ण वर्णन से विदित होता है कि महाराज हर्ष के शासन-काल में उसकी प्रथा प्रचलित नहीं थी। उसका कथन है कि वृत्तों अर्थात् छन्दों के अतिरिक्त पादच्छेद और कहीं नहीं पाया जाता और शत्ररंग में ही चतुरंगों[2](हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे) की कल्पना अर्थात् रचना होती थी; अपराधियों के चतुरंग (अर्थात् दो हाथ, दो पैर) नहीं काटे जाते थे।[2]

जल, अग्नि, तुला विष द्वारा अपराधी की परीक्षा भी ली जाने की प्रथा प्रचलित थी। वाटर्स महोदय ने उक्त प्रकार की परीक्षाओं का पूर्ण वृत्तांत दिया है। इन्हें अपराध-परीक्षा न मान कर सीधे दण्ड माना जाय तो अधिक उचित हो, क्योंकि जल में अपराधी को बोरे में कसकर डालकर (साथ ही पत्थर भरा हुआ एक दूसरा बोरा पानी में डालकर) यह आशा करना कि अपराधी यदि वास्तव में अपराधी नहीं

---

1. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 172.

2. वृतानां पादच्छेदाः अष्टापदानां चतुरंगकल्पना—हर्षचरित, पृ० 122.

इसपर शंकर की टीका इस प्रकार है—

वृत्तानां पादच्छेदाः—वृतानां गुरुलघुनियमात्मकानां समविषमानां पादच्छेदाः भाग विरामाः चरणकतैनानि च।

अष्टापदानां चतुरंगकल्पना—अष्टापदानां चतुरंग फलकानां। चत्वार्यङ्गकानि सेनाय हस्त्यश्वरथपतयः=तेषां कल्पना रचना चतुर्णामङ्गानां पाणिपादस्य च छेदः।

हैं तो वह नहीं डूबेगा, कोरा भ्रम है। इसी प्रकार तप्त लोहे को जीभ से चाटकर या उस पर बैठ कर साफ बच जाने की कल्पना करना भी उचित नहीं है। इसी प्रकार विषपान कराकर यह आशा करना कि यदि वह अपराधी न होगा तो बच जायेगा, तर्कसंगत नहीं।[1] मानवीय दृष्टिकोण से तो यह सर्वथा अनैतिक है। किन्तु उक्त दण्ड विधान प्रयोग में कहाँ तक लाया जाता था, इसपर हमें कुछ सन्देह है। बाण ने कादम्बरी में श्लेष का आश्रय लेकर प्रच्छन्न रूप से इन चारो "दिव्य" परीक्षाओं[2] का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि जिस समय उज्जैन में राजा ताड़ापीड शासन करता था उस समय धनी लोग ही अग्नि को सहन करते थे, न कि अपराधी-गण। तुला (राशि अथवा तराजू) पर ग्रहों का ही आरोहण होता था न कि अपराधियों का। जंगल के हाथी ही 'वारि' अर्थात् गज-बन्धन-भूमि में प्रवेश करते थे, न कि अपराधी अपराध-परीक्षा के लिए वारि अर्थात् जल में। विष—(जल की) शुद्धि अगस्त्य नक्षत्र के उदय-काल में ही होती थी, विष—(जहर) प्रयोग द्वारा शुद्धि (अपराध से मुक्त) करने की क्रिया का व्यवहार नहीं होता था।[3]

हर्ष के समय में दण्ड-विधान निश्चय ही कठोर था और उसका प्रतिफल यह था कि अपराधों की संख्या कम थी,[4] परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सम्पूर्ण राज्य में कहीं भी कोई अरक्षित स्थान न था।

"एकबार पंजाब में चेनाब नदी को पार करने और शाकल नगर को छोड़ने के पश्चात् वह (ह्वेनसांग) पलाश के वन से होकर गुजरा। वहाँ पचास डाकुओं के एक दल ने उसपर आक्रमण कर दिया, वस्त्रादि सब कुछ लूट लिया और हाथ में

---

1. वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 172.
2. मयूरेश्वर ने कादम्बरी की जो टीका की है, उसके लिए 'दिव्य' शब्द का प्रयोग किया है—द्रष्टव्य, बाद की पाद टिप्पणी।
3. यस्मिंश्च राजनि—वनकारिणी वारिप्रवेशः व्रतिनामग्निधारणं ग्रहाराजं तुलारोहणम् अगस्त्योदये विषशुद्धिः—'कादम्बरी' पृ० 95.

   इसपर मयूरेश्वर की टीका इस प्रकार है—वारिर्गजबंधन-भूमिः न तु लोकानां दिव्यार्थं जलप्रवेशाः। अग्निधारणम्। न तु लोकानां दिव्यार्थ मग्नेरग्नौ वा धारणम्। तुला राशिविशेषः स्तस्यामारोहणं संक्रमः। न तु लोकानां। दिव्यार्थं तुलादण्डारोहणम्। विषं जलं तस्य शुद्धिः स्वच्छता। न तु दिव्यार्थं विषमक्षणेनामराधायनयनम्।
4. "शासन का काम सचाई से किया जाता है और लोग परस्पर मिल कर रहते है, अतः अपराधियों की संख्या कम है।" वाटर्स, जिल्द 1, पृ० 171.

तलवार लेकर उसका पीछा किया। अन्त में एक ब्राह्मण ने जो खेत जोत रहा था, उसकी रक्षा की। उसने पुकारकर 80 हथियारबन्द आदमियों को एकत्रित किया।"[1] इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण 'जीवनी' से प्राप्त होता है। अयोध्या छोड़ने के पश्चात् गंगा की जलयात्रा करते समय राजधानी से कुछ दूरी पर डाकुओं ने उसे कैद कर लिया और वे दुर्गा के उपासक होने के नाते ह्वेनसांग को बलि देने के अभिप्राय से ले चले। सौभाग्यवश एक भयंकर तूफान आया और डाकू ह्वेनसांग को छोड़कर भाग गये।[2]

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में फाहियान को भारत की यात्रा में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा था, पर ह्वेनसांग को जल तथा स्थल दोनों मार्गों में डाकू मिले। यह शासन की ढिलाई का एक बड़ा प्रमाण है और इसीलिए डा० मुकर्जी का मत है कि हर्ष का शासन-प्रबंध गुप्त-नरेशों के शासन-प्रबंध की तुलना नहीं कर सकता।[3] मुकर्जी का मत बिल्कुल तर्कसंगत है।

पाल प्रतिहार काल में जिला-शासन

भूमिका :—ईसा पूर्व शताब्दियों में साम्राज्य की भावना भारत में जाग्रत की गयी थी, जिसका पूर्ण विकास गुप्तकाल में मिलता है। तत्कालीन लेखों के अध्ययन से पता चलता है कि सम्राट् के स्वयं शासित देशों के अतिरिक्त महासामन्त भी अधीन होकर शासन करते रहे। उस युग में राज्य का इतना अधिक विस्तार था कि विभिन्न प्रांतों के गवर्नरों (उपरिकर) की सहायता से शासन-प्रबंध सम्पन्न हो पाता। गुप्त-शासन के पश्चात् भी यही प्रणाली प्रचलित रही। यों तो गुप्तों के साथ ही वास्तविक साम्राज्य का अन्त हो गया था, तो भी हर्ष, गुर्जर प्रतिहार तथा पाल वंशी राजा विशाल साम्राज्य पर शासन करते रहे। उत्तरी भारत (क्षेत्र) में उन सब का शासन-कार्य आदर्श रूप से चलता रहा। उत्तरी भारत में वर्धन, प्रतिहार या पाल राज्य यथा समय विस्तृत रहे, परन्तु उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर उनकी विस्तृत शासन-प्रणाली का परिज्ञान नहीं हो पाता, जिससे उन्हें वास्तविक साम्राज्य का नाम दे सकें। हिन्दू राजा तो दिखलाने के लिए ही सम्राट् होने का दावा करते थे।

वास्तव में विजय करते समय हिन्दू शासकों का ध्यान देश को पद-दलित करने की ओर नहीं था, किन्तु पराजित नरेश द्वारा आधिपत्य स्वीकार कर लिया जाना

---

1. जीवनी, पृ० 73.
2. वही, पृ० 87 तथा आगे।
3. द्रष्टव्य, डा० मुकर्जी का 'हर्ष' पृ० 98.

आवश्यक समझा जाता था। विजेता देश-विदेश को जीतकर उसी देश में राज-परिवार के हाथ गद्दी छोड़ देता और विजय-दुन्दुभी बजाते वापस चला आता था। परन्तु इस युग में मुसलमानों के कारण उस पद्धति में परिवर्त्तन आ गया। इस्लाम-साम्राज्य का सिद्धांत ही कुछ और था। केवल विजय के नाम से मुसलमान सन्तुष्ट न होते थे। सुलेमान के कथनानुसार अरब विजेता पूरी शक्ति इस्लामी राज्य स्थापित करने में लगा देते थे। इसका एक कारण हिन्दुओं की कमजोरियाँ भी थीं।

छठी सदी के पश्चात् धीरे-धीरे सारा देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होने लगा। एक भाग दूसरे से पृथक रहता और सीमित परिस्थिति में काम करता था। इस प्रकार के छोटे राज्यों में सम्भवतः शक्ति की कमी थी, केवल पहले की महान् पदवी (परमभट्टारक महाराजधिराज परमेश्वर) से अपने को संतुष्ट करते और सम्राट् होने का गर्व करते रहने की प्रवृत्ति बनी रही। पूर्व-मध्यकालीन लेखों में इस तरह की व्यर्थ दिखावटी पदवी का उल्लेख मिलता है। इतना ही नहीं, उस पदवी के उपरांत भी चेदि, गहड़वाल तथा सेनकालीन लेखों में अश्वपति, गजपति, नरपति, राजत्रयाधिपति की पदवियां उल्लिखित मिलती हैं। डा० मजूमदार का मत है कि इन पदवियों से शासक की राज्य-शक्ति की वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है।[1] पर वास्तविकता उससे दूर थी। जैसी पदवी थी, उसके अनुरूप शक्ति का अनुमान नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य यह है कि पूर्व-मध्यकाल में साम्राज्य भावना का अभाव न था, परन्तु राजनैतिक परिस्थिति ने देश को टुकड़ों में बंटवा दिया था। सभी अपने छोटे सीमित राज्य की रक्षा में लगे रहते थे। राष्ट्रीय भाव से उन्होंने उस पहलू पर विचार न किया था। ऐसी दशा में एकछत्र राज्य स्थापित होना सम्भव न था। एकसूत्र में बांधने का प्रयत्न प्रतिहार तथा पाल नरेशों ने भी नहीं किया। युद्ध ही एकमात्र सामयिक कार्य मालूम पड़ता था। मुसलमानों के आक्रमण के समय हिन्दू नरेश उस धार्मिक युद्ध में सम्मिलित हो जाते थे, परन्तु सद्भावना की कमी थी, जिससे सब में एकता पैदा न हो सकी तथा सम्मिलित शक्ति से देश को मुसलमानों के आक्रमण से न बचा सके।

मध्ययुगीन दानपत्रों में प्रायः सर्वत्र ही अधिकारियों की सूची में सामन्त शब्द आता है, जिससे प्रकट होता है कि प्रत्येक शासक को सामन्त का भी सहयोग था और तभी शासन हो पाता था। डा० मजूमदार का मत है कि साम्राज्य स्थापित होने के बाद सामन्त लोगों की स्थिति आवश्यक हो जाती है। प्रतिहार तथा पाल नरेशों

1. बंगाल का इतिहास भाग 1, पृ० 273.

के लेखों में उनके लिए राजन, राजन्यक, राजनक सामन्त अथवा महासामन्त शब्दों का प्रयोग मिलता है। कहीं-कहीं वह महामाण्डलिक के नाम से भी पुकारा जाता था।[1] यद्यपि वे वास्तव में स्वतन्त्र नहीं थे, तथापि किसी प्रकार की समुचित व्यवस्था न होने तथा केन्द्रीय शासन के शक्तिहीन होने के कारण सहायक सामन्त भी स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने लगे।

जिस आदर्श सिद्धांत को लेकर प्राचीन काल में साम्राज्य का कार्य चलाया गया था वह मध्ययुग में हिन्दू राजाओं के हाथ नष्ट कर दिया गया। आठवीं सदी से एक विभिन्न प्रकार का राजतन्त्र आरम्भ हुआ, जिसका आधार विशिष्ट जाति थी। राजा अपनी जाति का एक राज्य स्थापित कर लेता था। उस तरह का नृपतन्त्र सारे राजपुताना में फैल गया। साधारणतया एक राजा के अधीन अनेक जातियाँ रहती थीं, परन्तु नये ढंग का राजतन्त्र उससे सर्वथा भिन्न था। राज्य के केन्द्र में राजा स्वयं शासन करता था और चारो तरफ अधीनस्थ छोटे सरदार शासन करते थे, जिन्हें सामन्त या महासामन्त कहा गया है। सियादोनी के लेख में वर्णन आता है कि गुर्जर प्रतिहार राजा के अनेक सामन्त थे, जो राजा भोज के अधीन कार्य करते रहे।[2] राजा के इच्छा करने पर भी वे एक सूत्र में न बंध सके।

जिला-शासन—हर्ष के बाद से ही सत्ता के विकेन्द्रीकरण की भावना को काफी प्रोत्साहन मिला था। यदा-कदा कुछ शक्तिशाली राजाओं ने भारतीय एकता की ओर प्रयास भी किया, परन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति कायम रही। इस युग में निरंकुश राजतन्त्रों की स्थापना हुई। शासन की समस्त सत्ता राजा के हाथ थी और वह मनमाने ढंग से शासन करता था। राजा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था और राज्य के प्रति जनता की उदासीनता बढ़ती जा रही थी। जनता राजनीति में किसी प्रकार से भाग नहीं लेती थी और विदेशी आक्रमणों के मुकाबले में उसका सहयोग नहीं लिया जाता था। देश के लिए यह प्रवृत्ति घातक सिद्ध हुई। स्वतंत्रता, राष्ट्रीयता, देशभक्ति आदि भावनाओं का अन्त हुआ और इसके स्थान पर परावलम्बन, उदासीनता, चाटुकारिता, आदि अवगुण उत्पन्न हुए। राजनीतिक जीवन का स्तर गिरने लगा था। विभिन्न राज्यों में पारस्परिक कलह और फूट की शुरूआत हो चुकी थी। राजा अपने-अपने वंश पर जोर देते थे।

राज्यों की शासन-व्यवस्था प्राचीन परम्पराओं पर ही आधारित थी। राजतन्त्र-

1. बंगाल का इतिहास, भा० 1, पृ० 274-275.
2. ए० इ०, भा० 1, पृ० 21.

परम्परा में राजा का सर्वाधिक महत्त्व था। वह अपनी शक्ति के लिए सामन्तों पर निर्भर रहता था। राजा को देवतुल्य माना जाता था और वह विशेषाधिकारों से युक्त था। उसके अधिकार पर कोई विशेष नियन्त्रण नहीं होने के कारण वह निरंकुश था। प्राचीन परम्पराओं और धर्मशास्त्र के नियमों की भी वह समय-समय पर अवहेलना किया करता था। मंत्री भी राजा के सेवक होते थे, जो सदा उसकी आज्ञा का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। केन्द्रीय शासन में शिथिलता आ गयी थी।

सामन्तवाद की प्रवृत्तियां हमें कुषाण राज्य में देखने को मिलती हैं। गुप्तों के समय में सामन्तवाद को राजकीय प्रोत्साहन मिलना शुरू हो गया, जिसका वर्णन इसके पहले के अध्याय में किया जा चुका है। हर्ष के बाद पाल-प्रतिहार काल में सामन्तवादी व्यवस्था अपने उत्कर्ष पर पहुँच गयी। अतः यहाँ पर सामन्तवाद के ऊपर विचार कर लेना अनावश्यक न होगा।

पाल-शासन के संचालन में राजा सामन्तों की भी सहायता लेता था। सामंतों को अभिलेखों में राजन्, राजन्यक, राजनक, राणक, सामन्त तथा महासामन्त कहा गया है। वे अपना अलग दरबार अपनी राजधानी में लगाते थे। वे सम्राट् के दरबार में विद्यमान् रहते थे। खलिमपुर तथा मुँगेर के अभिलेख में उसका सुन्दर वर्णन मिलता है। सामन्तों के पास सेना की टुकड़ी रहती थी और वे शत्रुओं के आक्रमण के समय राजा की सहायता करते थे। पाल राजाओं को सामन्त भेंट इत्यादि भी दिया करते थे। अगर कोई सामन्त विद्रोह करता था तो उसे राजा दबा देता था। पालों ने इस व्यवस्था को गुप्तों से ग्रहण किया।

प्रान्तीय शासन पर सामन्तों का अधिकार था, जो प्रायः स्वतन्त्र रूप में शासन करते थे। केन्द्रीय शासन का उनपर विशेष प्रभाव नहीं रहता था। सामन्तों को आन्तरिक विषयों में विशेषाधिकार प्राप्त था। ग्राम-पंचायतों का महत्त्व कम हो गया था, क्योंकि उनपर अब सामन्तों का अधिकार बढ़ गया था। जागर-प्रथा के प्रचलन से सामन्तों के अधिकार में काफी वृद्धि हो गयी थी। अधिकतर सामन्तों की सम्मिलित सेना पर ही राजा को निर्भर रहना पड़ता था, क्योंकि राजा की व्यक्तिगत एवं स्थायी सेना कम होती थी। सामन्तों को गुप्त रखने के लिए राजा को बहुत कुछ करना पड़ता था। कभी-कभी प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों के बीच का अन्तर बहुत अस्पष्ट होता था। पाल प्रतिहार काल में सामन्तों की सेना पर राजा के निर्भर रहने की

प्रवृत्ति बढ़ गयी थी। सामन्ती व्यवस्था एक अभिशाप सिद्ध हुई क्योंकि केन्द्रीय सत्ता को कमजोर बनाने में उसका बड़ा योगदान रहा।[1]

सामन्तों की स्थिति में अब पर्याप्त परिवर्त्तन हो चुका था[2] और वे लोग तत्कालीन राजनीति के एक प्रमुख अंग बन गये थे। पाल-प्रतिहार-राष्ट्रकूटों की राजनीति तो सामन्तवादी व्यवस्था पर ही आधारित थी और राजपूत लोगों का संगठन भी सामन्ती था। प्रजा की रक्षा के साथ ही राजा वर्णाश्रमधर्म का पालक भी था। राजपद वंशानुगत हो गया था, इसलिए युवराज का वैधानिक महत्त्व बढ़ गया था। पाल, सेन, परमार, चन्देल और गढ़वालों का महत्त्व उनके अभिलेख से इस बात की पुष्टी करता है। दानपत्रों का महत्त्व काफी बढ़ गया था और दानपत्र विभाग राज्य का एक प्रमुख विभाग हो गया था। भूमि कर की वसूली का भार राजपूतों ने सामंतों को सौंप दिया था, जिससे उनके अधिकार में और भी वृद्धि हो गयी थी। दान ताम्रपत्र पर अंकित करके ही दिया जाता था और सरकारी कर्मचारियों को इसकी सूचना दे दी जाती थी। अक्षपटलिक और गोप इन दान-लेखों की रक्षा करते थे। चन्देल लेखों में जलाशयों और वाटिकाओं के साथ गढ़वाल लेखों में नमक तथा लोहे की खानों के साथ भूमिदान का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार दान में जो भूमि मिलती थी, उससे बड़े-बड़े जमींदारों का जन्म हुआ। ऐसे दान पानेवाले व्यक्ति राजकरों से भी मुक्त रहते थे, यद्यपि उन्हें कुछ खास नियमों का पालन करना पड़ता था।

प्रांतीय और मुक्ति, विषय तथा स्थानीय शासन पर भी सामन्तों का प्रभाव देखा जा सकता है। उत्तर भारत में राजा द्वारा शासित भूमि विभिन्न 'भुक्ति' विषय' और मण्डल नामक भागों में क्रम से विभाजित होती थी।

तत्कालीन प्रतिहार अभिलेखों में अनेक नामों से राज्य के सेवकों का उल्लेख है, जैसे—'दण्डपाशिक' (पुलिस का अफसर), 'महाप्रतिहार' (द्वार-रक्षक), 'बलाधिकृत' (सेना नायक)। बड़े-बड़े नगरों में राज्य की ओर से कोटपाल और बलाधिकृत रहते थे और दो श्रेष्ठी एवं एक 'सार्थवाह' (व्यापारिक मण्डलियों के नायक) की एक कमेटी नगर का प्रबन्ध करती थी। मुस्लिम काल का 'कोतवाल' शब्द इसी 'कोटपाल' का अपभ्रंश है। भूमि की नाप का भी उल्लेख मिलता है। बड़े भागों के शासक 'उपरिक' या राजस्थानीय कहलाते थे। मन्त्री 'अमात्य' कहलाते थे। मन्त्रियों में एक सन्धि-विग्रहिक कहलाता था जो आज के वाह्य मन्त्रियों जैसा काम करता था।

1. रामशरण शर्मा—भारतीय सामन्तवाद।
2. उपरिवत्।

परन्तु तत्कालीन राज्यों की अधिकांश भूमि सामन्तों के अधीन होती थी। साधारणतया, क्रम से कम 84 ग्रामों की गणना में भूमि उनके पास होती थी, जिसका शासन वे स्वयं करते थे। सामन्तवर्ग में अधिकांशतः राजा के ही जाति और कुल के लोग रहते थे। बंगाल, काश्मीर और अन्य स्थानों में शासन का वर्गीकरण नामावली अधिकार, वितरण आदि के थोड़ा-बहुत हेर-फेर के साथ प्रायः प्रतिहार जैसा ही था। बेगार की प्रथा भी इस युग में प्रचलित थी। सिक्कों का अभाव भी इस युग में देखने को मिलता है।

पाल साम्राज्य के शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए उसे कई इकाईयों में बांट दिया गया था। पाल साम्राज्य भुक्तियों, विषयों, मण्डलों, पाठकों तथा ग्रामों में विभक्त था। पाल राज्य इतना विस्तृत था कि बंगाल ही तीन भुक्तियों में बंट गया था (पुण्ड्रवर्धन, वर्द्धमान तथा दण्ड) बिहार प्रांत को तीरमुक्ति तथा श्रीनगर भुक्ति में विभक्त किया गया था और आसाम का प्रांत प्राग्जोतिष भुक्ति के नाम से प्रसिद्ध था। भुक्ति के प्रशासक के लिए लेखों में विभिन्न नाम मिलते हैं। तत्कालीन अभिलेखों में राजस्थानीय, कुमारामात्य, महाकुमारामात्य, राजामात्य, तथा उपरिक शब्द आये हैं। पालवंशी अमागछी लेख में कुमारामात्य, देवपाल के नालन्दा ताम्र पत्र में उपरिक और राजस्थानीय शब्द मिलते हैं। उड़ीसा के एक लेख में अन्तिम दोनों शब्द मिले हैं। इन पदवियों के अतिरिक्त धर्मपाल के सालीमपुर दान पत्र में भुक्ति के शासक के लिए 'भोगपति' शब्द का प्रयोग किया गया है। कलचूरी लेख में भोगिक शब्द प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भुक्ति के प्रशासक के लिए कई शब्दों का प्रयोग होता रहा। भुक्ति का शासन एक अधिकारी के हाथ में था, जो राजा की ओर से सब राज-प्रबन्ध करता था। 'भुक्ति' को प्रांत कहा गया है। प्रांतपति को शासक अपने हस्ताक्षर के साथ आज्ञा-पत्र दिया करता था, जिसका पालन करना उसके लिए नितान्त आवश्यक था। प्रांतपति की नियुक्ति राजा स्वयं करता था, जो किसी श्रेष्ठ कुल, राजघराने या सरदारों में से होता था। केन्द्रीय राजधानी के अतिरिक्त प्रत्येक प्रांत में एक राजधानी होती थी, जहाँ भूमि-कर, जुर्माने आदि संचित किये जाते थे।

इस संकलित आय में से प्रांतीय-शासन-व्यय निकाल कर अवशेष आय केन्द्र में भेज दी जाती थी। 'भुक्ति' को प्रांत कहा जाय या जिला, यह एक विचारणीय प्रश्न हैं। पूर्वी भारत में भुक्ति विषय से बड़ी इकाई थी। परन्तु मध्य और दक्षिण भारत में भुक्ति परगना की तरह राज्य की छोटी इकाई के रूप में उल्लिखित है। भुक्तियों और विषयों की सीमा निश्चित नहीं थी। भुक्ति और विषय कभी एक-से ही मालूम

पड़ते थे और कभी-कभी अलग भी। आज की तरह इनका स्वरूप बहुत बँटा हुआ नहीं था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पाल और प्रतिहार काल में भुक्ति और विषय का शासन जिला-शासन के समकक्ष रहा होगा।

विषय :—प्राचीन काल में जिले के लिए 'विषय' शब्द का प्रयोग मिलता है। मध्यकालीन लेखों में 'विषयपति' का नाम मिलता है, जो आजकल के जिलाधीश के समान था। उसका काम जिले में शान्ति तथा सुव्यवस्था रखना था। वह मालगुजारी आदि करों की वसूली करता था। विषयपति को शासन-कार्य में सहायता देने के लिए एक छोटी समिति होती थी, जिसके सम्बन्ध में एक उत्कीर्ण लेख से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस सभा में निम्नलिखित सदस्य होते थे—(1) नगर-श्रेष्ठी—विषय के प्रधान नगर का मुख्य सेठ या जगत्सेठ, (2) सार्थवाह—यह विषय के अन्तर्गत विविध व्यापारी-संगठनों का प्रतिनिधित्व करता था, (3) प्रथम-कुलिक—यह विविध शिल्पी-श्रेणियों का प्रतिनिधि होता था, (4) प्रथम कायस्थ—यह सरकारी कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करता था। सम्भवतः चोरधरणिक तथा दण्डपाशिक नामक दो पुलिस कार्यकर्त्ता विषयपति के ही अधीनस्थ थे, जो जिले में शान्ति-व्यवस्था तथा सुशासन के कार्य में जिलाधीश को सहायता प्रदान करते थे। विषयपति को न्याय का अधिकार नहीं उपलब्ध था। यह कहना कठिन है कि वाणिज्य तथा उद्योग-धन्धे के काम भी उसी के अनुशासन में थे वा नहीं। गहड़वाल, पाल तथा उड़ीसा के लेखों में विषयपति के नामोल्लेख से यह प्रकट होता है कि उत्तर प्रदेश से लेकर उड़ीसा तक एक प्रकार का शासन था; किन्तु उनके कार्य के विषय में विस्तृत रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। जिले में पुस्तपाल की नियुक्ति लेखों की सुरक्षा के लिए की जाती थी, जिसका कि उल्लेख हमें सुभाकर के नूलपुर पत्र से मिलता है।[1] मण्डल तथा पाठक विषय के प्रशासनिक अंग थे।

पालवंश के राजाओं के अनेक ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिसमें इस युग के विविध राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं। पालवंशी राजा धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्र-पत्र में राजा द्वारा दान की गयी एक जागीर का उल्लेख किया गया है, जिसकी सूचना निम्नलिखित कर्मचारियों को दी गयी थी :—

(1) राजा—अधीनस्थ सामन्त राजा,
(2) राजपुत्र—सामन्त राजाओं के युवराज,
(3) राजामात्य,
(4) राजनक—विविध जागीरदार,

1. ए० इ०, भा० 15, पृ० 2.

(5) सेनापति,
(6) विषयपति—विषय नामक विभाग या जिले के शासक,
(7) भोगपति—विषय के उप-विभाग 'भोग' का शासक,
(8) षष्ठाधिकृत—किसानों द्वारा वसूल किये जानेवाले षड्भाग का प्रधान अधिकारी,
(9) दण्डशक्ति—सम्भवतः, पुलिस विभाग का अधिकारी,
(10) दण्डपाशक—पुलिस विभाग का ही अन्य अधिकारी,
(11) चौरोद्धारणिक—चोरों को पकड़ने के लिए नियुक्त पुलिस अधिकारी,
(12) दौसाध साधनिक—सम्भवतः ग्रामों का व्यवस्थापक,
(13) दूत,
(14) खोल,
(15) गामागमिक,
(16) अभित्वरमान,
(17) हस्त्यश्वगोमहिष—आजविक अध्यक्ष,
(18) नौकाध्यक्ष,
(19) बलाध्यक्ष,
(20) तटिक—नदी पार उतरने के स्थानों का अधिकारी,
(21) शौल्किक—शुल्क वसूल करनेवाला अधिकारी,
(22) गौल्मिक,
(23) तदायुक्त,
(24) विनियुक्त,
(25) ज्येष्ठ कायस्थ,
(26) महामहत्तर,
(27) महत्तर,
(28) दशग्रामिक, और
(29) करण—हिसाब करनेवाला।

खालिमपुर ताम्र-पत्र में जिन कर्मचारियों के नाम आये हैं, उनमें से सब का ठीक-ठीक अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सब राज-कर्मचारी थे, और जागीर के दान की सूचना के लिए ही इनका उल्लेख ताम्र-पत्र में किया गया है। सेन आदि अन्य राजवंशों के उत्कीर्ण लेखों में भी इसी प्रकार से अनेक राज-कर्मचारियों के नाम दिये गये है, जिनसे मध्य युग के उत्तरी भारत के

राज-कर्मचारी-तन्त्र का पता चलता है। विषय-शासन के अन्तर्गत ग्राम-शासन का भी महत्व था।

पाल युग के ग्राम-शासन के विषय में विशेष जानकारी नहीं हो पायी है। ग्राम का शासन ग्रामपति के हाथ में था। वह ग्राम में शान्ति बनाये रखने का प्रयास करता था। वह आक्रमण के समय अपने ग्राम की रक्षा भी करता था। शान्ति के समय राज्य के लिए ग्रामवासियों से विभिन्न प्रकार का कर वसूल करता था। पाल-लेख में दसग्रामिक शब्द मिलता है। सम्भवतः कई ग्रामों को (दस ग्रामों को) मिलाकर ग्राम-पंचायत से भी बड़ी कोई संस्था थी, जिसका अधिकारी दशग्रामिक कहलाता था। गांव में पहरा देने के लिए दौस्साध-साधनिक था। वह आधुनिक युग के चौकीदार के समान था।

पांचवां अध्याय

दक्षिण भारत में जिला-शासन का इतिहास

(300 - 1000 ई०)

सातवाहन काल में जिला-शासन :

शासन-प्रणाली के अध्ययन के दृष्टिकोण से, इस दिशा में मौर्यों के उत्तराधिकारी सातवाहन थे। उनकी शासन-व्यवस्था राजतन्त्रात्मक थी। राजा राज्य का प्रमुख होता था, जिसे राजन् या राजा कहा जाता था। गौतमी बालाश्री के अनुसार, उनके पुत्रों तथा प्रपौत्रों ने 'महाराजा' उपाधि धारण की थी। परन्तु यथार्थ में सातवाहन राजा मौर्य राजाओं की तरह 'राजा' जैसी साधारण उपाधि धारण कर सन्तुष्ट थे। राजा के हाथ में राज्य की अन्तिम शक्ति निहित थी। राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों में प्रजारंजन, प्रजापालन तथा प्रजारक्षण शामिल था। मन्त्रियों की सहायता से राजा अलभ्य की प्राप्ति, प्राप्ति की रक्षा, रक्षित की वृद्धि तथा वृद्धि का योग्य पात्रों में वितरण करता था।

सातवाहन राजत्व दैवी सिद्धान्त से प्रभावित था। अभिलेखों में गौतमी पुत्र सातकर्णी की तुलना राम, केशव, अर्जुन, भीम, नाभाग, नहुष, जनमेजय, सगर, ययाति, अम्बरीष, गरुड सिद्ध, यक्ष, राक्षस, विद्याधर, भूत, गन्धर्व, चारण, चन्द्र, दिवाकर तथा नक्षत्रों से की गयी हैं। सातवाहनों का प्रभाव आगे आनेवाली शासन-व्यवस्था पर पड़ा। राजत्व के दैवी सिद्धान्त का पूर्ण विकसित रूप गुप्तकाल में देखा जा सकता है। समुद्रगुप्त की तुलना प्रयाग स्तम्भाभिलेख में वरुण, कुबेर, कृतान्त आदि से की गयी है। निश्चय ही गुप्तों ने यह परम्परा सातवाहनों से प्राप्त की होगी।

सातवाहन-राजतन्त्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि राजाओं का नाम-करण उनकी माताओं के नाम पर हुआ करता था; जैसे—गौतमी-पुत्र सातकर्णी, अर्थात् सातकर्णी, जो गौतमी का पुत्र है।[1] गौतमी-पुत्र सातकर्णी, वशिष्ठी-पुत्र पुलुमायी, वशिष्ठी-पुत्र सातकर्णी तथा गौतमी-पुत्र श्रीयज्ञ सातकर्णी में से किसी ने भी अपने पिता के नाम का उल्लेख नहीं किया है। इनके नाम इनकी माताओं के नाम पर

1. Shashtri—*A History of South India*; EI-VIII, p. 60; XII, p. 32; Also see—Gopalachari—*History of the Andhras*.

ही निर्भर थे। ठीक इसी ढंग से महाकाव्य में भी कुछ लोगों का नामकरण माता के नाम के आधार पर ही हुआ; जैसे—पृथा का पुत्र पार्थ कुन्ती का पुत्र कौन्तेय। परन्तु सातवाहनों का मातृक नामकरण उन्हीं तक सीमित रहा। गुप्तकाल तथा उत्तर-गुप्तकाल में राजाओं ने केवल अपने पिता के नाम का उल्लेख किया, बल्कि उनकी विजयों का भी।

सातवाहन राजा निरंकुश नहीं थे। वे स्वयं राजा होते हुए भी राज्य-संचालन के लिए नियम, कानून नहीं बना सकते थे। राजा को बुद्धिमान, कुलीन, विशुद्ध और कर्त्तव्य-परायण मंत्रियों की नियुक्ति करनी पड़ती थी और राजा उनके परामर्श से ही राज्य का संचालन करता था। राजकर्म में पर्याप्त प्रशिक्षण की आवश्यकता होती थी। मंत्रियों की कई कोटियाँ होती थी जिनमें सचिव और अमात्य प्रमुख थे। सातवाहन-अभिलेख में ही सर्वप्रथम 'अमात्य' शब्द का व्यवहार मिलता है। सातवाहनों का पद वंशानुगत नहीं था, लेकिन गुप्तकाल में जाकर यह वंशानुगत हो गया। अभिलेखों में अमात्यों के नामों का भी उल्लेख है। विष्णुपालित, शिवदत्त श्यामक, शिवस्कन्दिल और परिगुप्त इनमें से प्रमुख हैं। कुछ अभिलेखों में राजामात्य की भी चर्चा आयी है। अमात्यों का सातवाहन-शासन-व्यवस्था में वही स्थान था जो धर्ममहामात्र का अशोक के शासन में तथा कुमारामात्य का गुप्त-शासन में था। अन्य राज्याधिकारियों में प्रतिहार, महासेनापति (प्रांत अथवा राष्ट्र के शासन), महारथी, भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष) तथा पट्टिकापलक (दान में दी गयी भूमी का रेकर्ड रखनेवाला) के नाम आते हैं। इन सबों को वेतन मौर्यकाल की ही तरह नकद रुपये में दिया जाता था। पर्याप्त संख्या में प्राप्त सातवाहनकालीन सिक्के (कर्षापण) इस बात को प्रमाणित करते हैं।

सातवाहनों का शासन-प्रबन्ध बहुत कुछ मौर्यों के शासन-प्रबन्ध के समान ही था। शासन की सुविधा के लिए सातवाहन राजाओं ने अपने साम्राज्य को 'आहारों'[1] या जनपदों में बाँट रखा था। सातवाहन साम्राज्य का यह प्रशासनिक विभाजन वाकाटककाल में भी स्थिर रहा। प्रथम शताब्दी के एक सातवाहन-अभिलेख से यह प्रमाण मिलता है कि आहार, जनपद के ही समान थे। जनपद का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अशोक के अभिलेखों में भी हुआ है। परन्तु इस जनपद की रचना 3200 गांवों को मिलाकर होती थी। निश्चित ही, सातवाहनकालीन

1. Ahar is the common designation of an administrative district in the Satvahana period. Ahara is also mentioned in the Asokan inscription. Cf – Luder's List No. 988 and 1134.

आहार का विस्तार मौर्यकालीन जनपद के विस्तार से कम रहा होगा। प्रान्त का निर्देश राष्ट्र या देश से होता था वा जिलों का आहार, विषण, व जनपद से। परन्तु इस विषय में एक ही पद्धति रूढ़ नहीं थी। एक लेख में, जिसका सातवाहनी आहार नाम से उल्लेख है, उसी का उल्लेख दूसरे में सातवाहनी राष्ट्र के नाम से किया गया है, प्रशासन की ये सभी इकाईयाँ एक ही तरह की मालूम पड़ती हैं। साम्राज्य के विभिन्न भागों में ये भिन्न-भिन्न नामों से प्रचलित थी। आज की तरह इनका स्वरूप उतना बँटा हुआ नहीं था।

उस समय गोवर्द्धन एक प्रमुख आहार (जिला) था। प्रत्येक जनपद का शासन एक अमात्य अर्थात् असैनिक राज्यपाल, महासेनापति अर्थात् सैनिक राज्यपाल या स्थानीय सरदारों के हाथ में था जो महारठी, महाभोज या राजा कहलाते थे। उत्तर कोंकण, नासिक और वावासी (उत्तर कनाडा) में अमात्य शासक थे।

चीतलद्रुग (मैसूर) नानाघाट, कार्ले, और कन्हेरी में महारठी शासन चलाते थे। यज्ञश्री के समय में नासिक में और पुलमावि के समय में बेलारी में महासेनापति शासक थे। जिलाधीशों के पद का नाम नहीं मिलता है। उनका उल्लेख अमात्य[1] शब्द से किया गया है। परन्तु वह शब्द जिलाधीश के पद के बदले उस श्रेणी को निर्दिष्ट करता था जिस नौकर-श्रेणी के वे सदस्य थे। अमात्य श्रेणी के अधिकारियों को प्रायः सैनिक-शिक्षा भी दी जाती थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि महाभोज, महारठी और महासेनापति उस समय जिलाधीश का कार्य करते होंगे। इनका प्रमुख कार्य जिले में शांति-सुव्यवस्था कायम करना एवं मालगुजारी तथा कर वसूल करना था। आहार तथा जनपद की देखरेख में स्थानीय स्वशासन की भी अच्छी व्यवस्था थी।

सातवाहनों की शासन-व्यवस्था में स्वायत शासन को समुचित स्थान प्राप्त था। यद्यपि इस युग में कहीं-कहीं सैनिक शासन का प्रचलन था तथापि वहाँ भी स्वायत शासन की संस्थाएँ पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होने पायीं। शहरों में नगर-व्यवहारक और गाँवों में स्थानीय शासन सुचारू रूप से चलता था। यह उनके शासन की विशेषता थी। नगर-सभाओं और नगराक्षदर्श नामक अधिकारियों के उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। इनका सादृश्य मौर्य-युग की नगर-शासन-व्यवस्था के साथ स्थापित किया जा सकता है, जिसके सम्बंध में हम 'नगर विपोहालक' का नाम सुनते हैं।

---

1. Luder's List No. 1124.

नगर-शासन[1] में व्यापारियों का महत्वपूर्ण स्थान था। सातवाहनकाल में विकसित मुख्य नगर थे—बरौच, सोपार, कन्हेरी, कल्याणी, पैण्ण, जुन्नार, कार्ली, गोवर्द्धन, नासिक, धान्यकटक, बहल, अमरावती, नागार्जुनकोण्डा, अरिकामेडु इत्यादि। इनमें से अधिकांश नगरों का प्रशासन निगम द्वारा चलाया जाता था। प्रत्येक निगम की अपनी एक सभा होती थी, जिसके सदस्य व्यापारी-वर्ग के लोग हुआ करते थे। कभी-कभी गृहपति भी इसके सदस्य होते थे। निगम सभा एवं श्रेणी के बीच के सम्बन्ध की जानकारी नहीं हो पायी है। अतः राज्य-श्रेणी-सम्बन्ध का पता भी स्पष्ट रूप से नहीं चलता है।

नगर-निवासियों की भांति ग्रामवासियों को भी स्वशासन की प्रचुर सुविधाएँ उपलब्ध थीं। सातवाहन काल में भी शासन-प्रणाली का सबसे छोटा विभाग गांव था। उसके मुखिया को ग्रामणी, ग्रामिक, ग्रामेयक या ग्रामयोजक कहते थे। ग्राम-महतरों की एक समिति शासन-कार्य में उसे सहायता देती थी। ग्राम-समिति के माध्यम से जिलाधिकारियों और ग्रामवासियों के बीच सहयोग स्थापित होता था। सातवाहनयुग के अभिलेखों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है कि ग्राम, श्रेणी, निगम तथा जनपद के अपने-अपने निकाय होते थे, जिनके कर्त्तव्य, अधिकार तथा उत्तरदायित्व एक-दूसरे से काफी भिन्न होते थे। हां, एक बात अवश्य है कि कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में स्वशासन-मूलक एक सैद्धान्तिक समानता तथा एकरूपता होती थी।

सातवाहन-सैन्य-व्यवस्था के बारे में निश्चित रूप से जानकारी नहीं हो पायी है। गौल्मिक एक जिला पदाधिकारी होता था, जो गुल्म का प्रधान हुआ करता था। गुल्म सेना की एक टुकड़ी हुआ करती थी, जो 9 हाथियों, 27 घोड़ों एवं 45 पदाति-सैनिकों से सम्पन्न होती थी। सातवाहनकाल से पूर्व गुल्म में 9 रथों का भी समावेश रहा करता था। मनु के अनुसार, एक गुल्म की स्थापना दो, तीन, पांच, दस या सौ गांवों के मध्य की जाती थी। सम्भवतः महासेनापति जिला-शासन की देखभाल किया करता था। उसका कार्य सैन्य संगठन पर ध्यान देना था। सातवाहन-शासन-व्यवस्था में दन्ड का पर्याप्त महत्व था। दान दिये गये खेतों तथा गांवों में सैनिक और राजकीय अधिकारी प्रवेश पाने से वंचित थे। लेकिन साधारण गांवों का अवश्य ही वे शोषण करते रहे होंगे। अभिलेखों में कटक तथा स्कन्धावार की भी चर्चा आयी है। वेत्तकटक गोवर्धन में अवस्थित था। भूमि का दान सैनिक पड़ावों से भी किया जाता था।

1. There is a reference to *Nigamapatra*—Inhabitant of a hamlet—Cf Luder's List No. 1335; EI—VIII, No. 12.

जिला की आय का प्रमुख स्रोत भूमि से प्राप्त कर था, जिसे 'देयमेय' तथा 'मौन' कहा जाता था। विभिन्न प्रकार के व्यावसायिकों पर लगाये जाने वाले कर को 'कारूकर' कहा जाता था। विष्टि एवं प्रणय भी राजकीय आय के प्रमुख साधन थे। व्यापारिक आयात-निर्यात के ऊपर भी कर लगाया जाता था। राजस्व की वसूली द्रव्य तथा वस्तु दोनों रुपों में की जाती थी; परन्तु कर प्रायः सिक्कों में ही जमा किया जाता था। इसका प्रमाण 'हैरण्यिक' तथा 'भाण्डागारिक्य' शब्दों से मिलता है।

दान की गयी भूमि राजस्व की वसूली से वंचित थी, जिस तथ्य की पुष्टि द्वितीय शताब्दी के उपलब्ध सातवाहन-अभिलेखों से होती है जिनमें 'सर्वजातिपरिहार' शब्द की चर्चा आयी है। मौर्यकाल में परिहार (छूट) का क्षेत्र व्यापक था, परन्तु सातवाहन काल में परिहार केवल धार्मिक कारणों के चलते किया जाता था।

दान में दी गयी भूमि का उद्देश्य धार्मिक के साथ-साथ राजनीतिक भी था। ब्राह्मण सन्यासी लोग गाँव में राजा के प्रति ग्रामीणों को स्वामि-भक्ति का पाठ पढ़ाया करते थे। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के गांवों में शान्ति स्थापना हेतु पुलिस भेजने की कम आवश्यकता होती थी। इस प्रथा का पूर्ण विकास गुप्तकाल में जाकर हुआ।

पल्लव और चोल काल में जिला-शासन

पल्लव और चोलकालीन केन्द्रीय शासन की भूमिका :—

पल्लव तथा चोल साम्राज्य की शासन-व्यवस्था प्रमुखतः राजतन्त्रात्मक थी। पल्लव एवं चोल शासन ने दक्षिण भारत को एक सुसंगठित प्रशासनिक व्यवस्था प्रदान की। राजा का पद वंशपरम्परानुगत था। पल्लव नरेश अपनी उत्पत्ति ब्रह्मा से मानते थे। लेकिन, राजपद के लिए चुनाव की भी चर्चा आयी है। चोल राज्य के एक विशाल साम्राज्य में परिणत हो जाने पर राजा का प्रभुत्व, ठाट-बाट तथा सम्मान बहुत अधिक बढ़ गया था। सम्राट् विविध प्रकार से अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने की चेष्टा किया करता था। उसकी एक से अधिक राजधानियाँ होती थीं और उसकी राजसभा ऐश्वर्यमयी तथा तड़क-भड़क से परिपूर्ण हुआ करती थी। वह अश्वमेधादि यज्ञों का अनुष्ठान करता था और इन अवसरों पर ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा एवं दान दिया करता था। इतना ही नहीं, विशेष मन्दिरों के नाम सम्राटों के नाम पर रख दिये जाते थे; जैसे—राजराजेश्वर मन्दिर और मन्दिरों में उसकी

प्रतिमायें रखी जाती थीं। पल्लवों और चोलों ने शक्तिशाली शासन-प्रणाली की स्थापना की, जो हर दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण थी।

पल्लव एवं चोल अभिलेखों से उनकी शासन-प्रणाली पर काफी प्रकाश पड़ता है। पल्लव तथा चोलों का राज्य और शासन अच्छी तरह संगठित था। राजा राज्य का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी था और वही शासन यंत्र का मुख्य केन्द्र था। उसके ऊपर राज्य की रक्षा, न्याय और शासन का पूर्ण दायित्व था। उसकी सहायता के लिए मन्त्री और अमात्य हुआ करते थे। पल्लव काल में राजा की आज्ञा उसका निजी मन्त्री लिखा करता था।

प्राचीन प्रणालियों के अनुसार अनेक अध्यक्षों और राज-पुरुषों के अधीन सारा केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन संगठित था। अभिलेखों से मुख्य अधिकारियों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—राजकुमार-युवराज (प्रान्तीय शासक), अमात्य या राजा के उच्च अधिकारी राष्ट्रिक (प्रान्त अथवा जिले के अधिकारी, देशाधिकृत (स्थानीय-संरक्षक), ग्रामभोजक (गांव का मुखिया), गौल्मिक (सेनानायक या जंगल का अधिकारी, दूतक (सन्देशवाहक), संजरन्तक (गुप्तचर), भट्ट-मनुष्य (सैनिक) इत्यादि। चोल काल में निम्नलिखित अधिकारियों का उल्लेख मिलता है—(1) ओलेनायकम् (प्रधान सेक्रेटरी, (2) पेरून्दरम् (प्रधान कर्मचारी) एवं विडैयाधिकारिन् (कार्य-प्रेषककिरनी) आदि। पुरोहित का स्थान राजकार्य में पर्याप्त महत्व का था। राजकीय अधिकारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। सम्भवतः उत्तर भारत की प्रशासनिक व्यवस्था के समान ही इनकी नियुक्ति को प्रभावित करनेवाले तत्व जन्म, जाति तथा योग्यता रहे होंगे। सम्राट् को शासन-कार्यों में सहायता देने के लिए कई कर्मचारी होते थे, जिनको नकद वेतन नहीं वरन् भू-भाग पारितोषिक के रूप में दिया जाता था। अभिलेखों से मालूम होता है कि चोल साम्राज्य में सिविल सर्विस का संगठन भी उत्तम था। चोल सम्राट् अपने साम्राज्य का दौरा भी करते थे। सम्राट् की शक्ति अनियंत्रित थी, किन्तु उन्हें स्थानीय नियमों और परम्पराओं पर ध्यान रखना पड़ता था।

पल्लव तथा चोल केन्द्रीय शासन एकतांत्रिक था। जिसका मूल राजा होता था। राज्य का सम्पूर्ण दायित्व राजा पर ही होता था। राजाओं की आज्ञाओं की पाण्डुलिपि तैयार करके भेजी जाती थी। राजाराज कालीन अभिलेखों से इस बात का पता चलता है। उसके पश्चात् यह परम्परा बाद तक चलती रही। राजाज्ञाओं को राजकीय पंजी में रखा जाता था और आज्ञाओं को प्रेषित करने के पहले राजकीय सचिव और मंत्रियों की अनुमति की आवश्यकता होती थी। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा हुआ था

जिसका संचालन अलग-अलग अधिकारी करते थे। विभिन्न करों एवं चुंगी के अतिरिक्त, न्यायालय में आर्थिक दण्ड से भी सरकार को आमदनी होती थी। सामंत और अधीनस्थ राजाओं से भी सम्राट् को वार्षिक कर मिलता था। लोकोपकारी कार्य भी राज्य की ओर से होता था। आय बढ़ाने के लिए तरह-तरह के कार्य किये जाते थे। इस सम्बन्ध में चोल शासकों ने समय-समय पर उचित कदम उठाये।[1]

जिला-शासन :—पल्लव तथा चोल राज्य में शासन की इकाई ग्राम होते थे, जो छोटे-छोटे राज्यों के सदृश थे, और जो अपना शासन स्वयं करते थे। कतिपय ग्राम मिलकर एक समूह का निर्माण करते थे, जिन्हें 'कुर्रम' कहा जाता था। कुर्रमों का समूह 'नाडु और 'नाडुओं के समूह को 'कोट्टम' या 'वालनाडु' कहते थे। बहुत से कोट्टम मिलकर राष्ट्र या मण्डल का निर्माण करते थे। पल्लव तथा चोल काल में इसी प्रकार का एक मण्डल था चोल काल में मण्डलम् की कुल संख्या आठ या नौ थी।

चोल वंश के राजाओं के उत्कर्ष काल में चोल-साम्राज्य में 'चोल मण्डलम्' के अतिरिक्त अन्य प्रदेश भी सम्मिलित थे, जो दो प्रकार के थे, विजित और सामंत-वर्गीय। राजराज प्रथम और राजेन्द्र-सदृश प्रतापी सम्राटों ने चोल-साम्राज्य को बहुत अधिक विस्तृत कर लिया था।

अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि पल्लव तथा चोलों का केन्द्रीय-शासन काफी सुदृढ़ था। स्थानीय-स्वशासन में ग्रामसभाओं को भी काफी अधिकार प्रदान

1. Neelkanth Shashtri writes thus—"The accurate Survey and assessment of the country for purposes of Lord revenue (a great Survey commenced in 1001), the perfection of the administrative organisation of the country by the creation of a strong and centralised machinery corresponding to the staff of Secretaries in a modern administration, and the posting of representative offices of the Central Government in suitable localities, the promotion of a system of audit and control by which village assemblies and other quasi public corporation were account without their initiative or autonomy being curtailed, the creation of a powerful standing army and a considerable navy, which achieved even greater success under himself, mark out Rajaraja as the greatest among the empire builders of Southern India."

किया गया था। मेरा ऐसा अनुमान है कि केन्द्र और ग्राम के बीच राष्ट्र या मण्डल उस समय जिला की तरह रहा होगा, जिसपर केन्द्र का नियंत्रण रहता था। राष्ट्र या मण्डल की देख-रेख में ग्रामसभाएँ अपना शासन करती थीं। ऐसा लगता है कि केन्द्र और ग्राम के बीच राष्ट्र या मण्डल (जिला) प्रशासन में एक कड़ी का काम करता था; जो एक तरफ केन्द्र से आदेश प्राप्त करता था और दूसरी ओर स्थानीय-शासन पर नियंत्रण रखता था। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कोट्टम, नाडु तथा कुरेम उस समय राष्ट्र या मण्डल के प्रशासनिक अंग रहे होंगे जिनपर स्थानीय शासन का दायित्व रहता था। इस प्रकार केन्द्रीय शासन का भार हल्का होता था।

प्रत्येक राष्ट्र या मण्डल के लिए एक शासक नियुक्त होता था, जो बहुधा राज कुमार अथवा अभिजातकुलीन होता था। राष्ट्र का प्रधान राष्ट्रिक और मण्डल-प्रधान माण्डलिक कहलाता था, जिसे हम वर्तमान जिलाधीश समझ सकते हैं। सामंत राजाओं के भी कुछ राज्य थे, जो केन्द्रीय सरकार को कर देते थे। आवश्यकता पड़ने पर वे सैनिक सहायता भी देते थे। मण्डलाधिकारियों में पराजित राजाओं के वंशज भी होते थे। राज्यों को विजित कर अपने साम्राज्य में मिलाकर अपनी सुविधानुसार उसमें मण्डल बनाये जाते थे और उनको विशेष नाम दिया जाता था, जैसे—चोल पाड्य और चोल गंग आदि। शासन की दूसरी इकाईयों की देख-रेख के लिए क्रमशः छोटे अधिकारियों की नियुक्ति होती थी। चोल-शासन की सत्ताएँ महत्त्वपूर्ण थी और उनमें सभा का बड़ा महत्त्व था। सम्पूर्ण मण्डल की जनता के लिए एक सभा होती थी।

कोट्टम, नाडु, कुर्रम और ग्राम राष्ट्र या मण्डल (जिला) के प्रशासनिक अंग थे, जिनके प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा पदाधिकारी नियुक्त किये गये थे। पल्लव काल में इनके पदाधिकारियों को देशातिक और वपिन कहा जाता था। नाडु आधुनिक तहसील के बराबर होते थे। 'लेडेन' के दानपत्र से ऐसा अनुमान होता है कि नाडु के अन्तर्गत रहनेवाले ग्रामों के प्रतिनिधि इस संस्था में उपस्थित रहते थे। नाडु-पंचायतें मालगुजारी के बन्दोबस्त और भूमि के वर्गीकरण में सक्रिय भाग लेती थीं। दानपत्रों में शासकगण इन संस्थाओं से अनुरोध करते थे कि वे भविष्य में उनकी भूमि या ग्रामदान में हस्तक्षेप न करें।[1] अकालादि के अवसरों पर नाडु-पंचायतें लगान में छूट प्राप्त करने की भी व्यवस्था करती थीं।[2] ग्राम-पंचायतों की भाँति नाडु-पंचायतें अपनी ओर से दान भी देती थीं और जनता द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति अथवा निधि की व्यवस्था भी करती थीं। ऐसे भी बहुत से उदाहरण मिले हैं जब संयोगवश

1. सौ० इं० एं० टि०, संख्या 356.

2. सौ० इं० ए० टि०, सन् 1919, सं० 556.

किसी के द्वारा किसी की मृत्यु हो जाने पर नाडु-पंचायतों ने निर्णय किया है कि उक्त घटना हत्या नहीं दुर्घटना है, और अभियुक्त को प्रायश्चित-स्वरूप स्थानीय देवालय में नन्दादीप जलाने की व्यवस्था करने का आदेश दिया।

बड़े-बड़े शहर स्वयं एक अलग कुर्रम बन जाते थे जो तनियूर या तंकुर्रम कहलाते थे। नाडु की जनता की नाट्टर नामक सभा होती थी तथा नगर के व्यापारी-वर्ग के लिए नगरतार नामक सभा होती थी। ये दोनों प्राचीन काल के उत्तरभारतीय 'जनपद' और 'पौर' के क्रमशः दक्षिणात्य रूपान्तर जान पड़ते हैं। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उनपर 'जनपद' और पौर' का किसी प्रकार प्रभाव पड़ा था। उनका आरम्भ दक्षिण में सर्वथा स्वतंत्र रूप से हुआ। ये सभाएँ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना निर्णय देती थीं। एक ही प्रकार का उद्योग-धंधा और व्यापार करनेवालों की श्रेणियों या पुग होते थे, जो अपने शासन के लिए नियम बना लेते थे और सरकार उन्हें स्वीकृत कर लेती थी।

राजा मौखिक आदेशों द्वारा अपना कार्य सम्पादन करते थे। परंतु इन आदेशों को प्राप्त करने और उन्हें कार्यान्वित करने से पहले एक विस्तृत कार्य-प्रणाली का पालन किया जाता था। चोल राजा प्रधान न्यायालय (ओलई) के अतिरिक्त अपने साथ निकट सेवकों के रूप में कार्य सम्पादन में सलाह देने के लिए सभी प्रमुख विभागों के प्रतिनिधि मंत्रियों को रखते थे, जो 'उडनकुट्टम' कहलाते थे।

चोल प्रशासन यन्त्र एक ऐसी विस्तृत जटिल नौकरशाही थी जिसमें विभिन्न स्तरों के अधिकारी भरे पड़े थे। समाज में सरकारी अधिकारियों का एक अलग वर्ग-जैसा था जो दो श्रेणियों में विभक्त था। इसमें ऊंची श्रेणी 'पेरुन्दनम्' और निम्नस्थ श्रेणी 'शिरुदनम्' कहलाती थी। सरकारी पद अक्सर कुल परम्परागत होते थे तथा सैनिक और नागरिक सेवाओं में कोई स्पष्ट भेद नहीं था।

भर्त्ती की प्रणाली अथवा पदोन्नति-सम्बन्धी नियमों के बारे में हमें विशेष जानकारी नहीं मिल सकी है। अधिकारियों को यहाँ वे काम करते थे उस स्थान की सुविधा के अनुसार अक्सर वेतन के रूप में जमीन दे दी जाती थी। सम्मानजनक उपाधियां तथा शुद्ध-सम्बन्धी लूट-पाट में प्राप्त अंश सरकारी सेवा के अन्य पुरस्कार थे।

राष्ट्र या मण्डल के अन्तर्गत ग्राम-शासन का विशेष महत्वपूर्ण स्थान था। अभिलेखों से ग्रामीण शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में काफी जानकारी मिलती है। पल्लव एवं चोल काल में ग्राम-सभाएँ मण्डल (जिला) की देख-रेख में अपना शासन संचालित

करती थी। पल्लवकालीन ग्रामीण शासन-व्यवस्था काफी उन्नत किस्म की थी। पल्लवकालीन ग्राम-सभाओं का ही पूर्ण प्रस्फुटन चोलकाल में हुआ तथा वे अनवरत रूप से ग्राम्य-जीवन को 19 वीं सदी तक कुशलतापूर्वक संचालित करती रहीं।

चोल-शासन-व्यवस्था का सबसे आकर्षक स्थल उसकी स्थानीय स्वशासन-व्यवस्था है। स्थानीय शासन ग्राम-सभाओं तथा औद्योगिक एवं व्यापारिक श्रेणियों के माध्यम से संचालित होता था। परन्तु, जहाँ एक ओर श्रेणी अथवा पूग समाज के वर्ग विशेष के स्वार्थ की पूर्त्ति करते थे वहीं दूसरी ओर ग्राम सभा का कार्य-क्षेत्र काफी विस्तृत था। अन्तर चाहे जो भी हो, निस्सन्देह दोनों ने मिलकर दक्षिण भारत में स्थानीय स्वशासन की गति को अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया, जिसका बीजारोपण पल्लवकाल में ही हो चुका था।

ग्राम-सभा :—चोल राजवंश के बहुत-से ऐसे शिलालेख और ताम्र-पत्र मिले हैं, जिनसे ग्राम सभा और उसकी 'समिति' के कार्यों का अधिक विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।[1] चोलों के शासन-काल में ग्राम-सभा दक्षिण के ग्रामीण जीवन की रीढ़ थी। सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था ग्राम-सभा या महा-सभा थी। चोलकाल में प्रत्येक ग्राम अपने ग्रामीणों द्वारा ही प्रशासित होता था। इस कार्य के हेतु एक ग्राम सभा का गठन किया गया था जिसकी सदस्यता कोई भी ग्रामीण कुछ विशेष योग्यताओं को पूरा करते हुए पा सकता था। एक गांव कई कुटुम्ब में बँटा होता था। इसके सदस्य सभा का संगठन करते थे। एक साथ ही कोई व्यक्ति सभा का भी सदस्य हो सकता था तथा किसी औद्योगिक संगठन का प्रतिनिधित्व भी कर सकता था। ग्राम-सभाएँ मुख्यतया तीन प्रकार की थीं—उर, सभा या महासभा और नगरम्। ये सभाएँ जनपद के प्रबन्ध में प्रायः स्वतन्त्र थीं, किन्तु मण्डल (जिला) के पदाधिकारी इनके आर्थिक कार्यों की सामयिक जांच-पड़ताल करते थे।

ग्राम सभाएँ ही ग्राम की भूमि की स्वामिनी थीं और हर प्रकार की भूमि उनके अधीन थी। जंगल को काटकर नयी भूमि तैयार करना उनका प्रमुख कार्य था। ग्राम सभा का मुख्य काम इस प्रकार था—

(1) जंगल साफ कर कृषि के लिए भूमि तैयार करना,

(2) लगान एकत्र करना,

---

1. See—A. Neelkanth Shastri's—**The Chola, Chap. 18 and Studies in Chola History and Administration**, p. 73-163 and S.K. Ayyangar's—**Administrative Institution in South India, Chapter—V.**

(3) धार्मिक न्याय के रूप में भूमि अथवा द्रव्य का दान स्वीकार करना,
(4) गांव के सदाचार को बनाये रखना,
(5) न्याय और दण्ड का पालन करना,
(6) मठों के माध्यम से शिक्षा का प्रबन्ध करना और
(7) आय-व्यय का हिसाब रखना और नियत समय पर वणक द्वारा उसका गठन करवाना।

चोल-प्रभिलेखों से ग्राम-सभाओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी मिलती है। ग्राम दो प्रकार के होते थे—(1) 'उर' (साधारण प्रकार के गांव) जिसकी सभा को उरार कहते थे, और (2) सम्राट् द्वारा ब्राह्मणों को दान में दिये गांव जिन्हें चतुर्वेदि-मंगलम् कहते थे और जिनकी संस्था सभा कहलाती थी। इन दोनों सभाओं की सदस्यता का वास्तविक स्वरूप क्या था, यह स्पष्ट रूप से कहना कठिन है। कुछ अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ग्राम को तीस भागों में विभाजित कर दिया जाता था और प्रत्येक भाग के निवासी कुछ व्यक्तियों को चुनते थे जिनमें निम्नांकित योग्यता का होना अनिवार्य था—

(क) डेढ़ एकड़ से कुछ अधिक भूमि का स्वामित्व;
(ख) अपनी ही भूमि पर बनवाये हुए मकान में रहना,
(ग) 35 वर्ष से लेकर 70 वर्ष तक की आयु का होना और वैदिक मन्त्रों तथा ब्राह्मणों के लिए ग्रन्थों को सम्यक् रूप से जानना।

इन योग्यताओं के होने पर भी निम्नलिखित व्यक्तियों को सदस्यता से वंचित कर दिया जाता था—जो पहले तीन वर्षों तक सदस्य रह चुके हों, जो व्यभिचारी और बेईमान हों, जो दूसरों का धन चुराये हों या निम्न जाति के सम्पर्क में रहे हों और जो वैदिक अनुष्ठानों से च्युत हो गये हों। सभा की बैठक नियमानुसार होती थी। प्रत्येक सभा शासन की सुविधा के लिए कई समितियों में बंटी थी, जिन्हें वरीयम् कहा जाता था। प्रमुख वरीयम् ये थे—सामान्य प्रबन्ध-समिति (पंचवाटवारीयम्), उपवन-समिति, सिंचाई-समिति, कृषि-समिति, लेखा-जोखा समिति, शिक्षा-समिति, भूमि-प्रबन्ध-समिति, मार्ग-समिति, न्याय-समिति, देवालय-समिति, स्थायी समिति एवं स्वर्ण-समिति। सभा के संविधान में आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किया जाता था। परान्तक के 919, 921 तथा 922 ई० के उत्तरमेरुर-अभिलेख इस बात को प्रमाणित करते हैं। सभा की बैठक मन्दिर के अहाते में ही प्रायः हुआ करती थी। नागरम् प्रायः व्यापारिक केन्द्रों में ही पाये जाते थे क्योंकि इनका एकमात्र उद्देश्य व्यापारिक संस्थाओं की उन्नति कराना ही था। उपर्युक्त समितियों

के ऊपर जिला-शासन (मण्डल) का नियन्त्रण रहता था। ये समितियां जिला-पदाधिकारियों के अधीन शासन का कार्य करती थीं। समय-समय पर जिला (मण्डल) पदाधिकारी इनके कार्यों का निरीक्षण करते थे। सभाओं की स्वायत्तता में जिला-पदाधिकारी हस्तक्षेप नहीं करते थे। इनकी स्वायत्तता ग्रामीणों की आर्थिक आत्म-निर्भरता की भी सूचिका हैं।

समितियों में कभी-कभी स्त्रियों को भी लिया जाता था। सभा के सदस्यों द्वारा ही समिति के सदस्यों का निर्वाचन किया जाता था। ग्राम-सभा का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और अधिकार बहुत अधिक थे। राज्य के सभी कार्य प्रायः ग्राम-सभाओं को करना पड़ता था। केवल ग्राम-सभाओं के अधिकार में स्थायी सेना नहीं रहती थी। मन्दिर, सर्वजनिक संस्थाओं की देखरेख, यातायात, राजपथ, न्याय, शिक्षा आदि ऐसा कोई काम न था जो ग्राम सभा के अन्तर्गत न हो। विभिन्न समितियों के कार्यों की प्रतिवर्ष जांच करने के लिए एक अन्य समिति होती थी। जब कभी दो सभाओं में परस्पर कोई विवाद-जनक प्रश्न उपस्थित हो जाता था तभी मण्डल (जिला) उनके कार्यों में हस्तक्षेप करने के लिए बाध्य होता था। स्थानीय शासन में जनता में आत्म-निर्भरता रहती थी और केन्द्रीय सरकार का दायित्व भी हल्का हो जाता था। चोलों की शासन-व्यवस्था के विषय में प्रो० नीलकंठ शास्त्री का कथन है कि योग्य नौकरशाही तथा सक्रिय स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से शासन की निपुणता एवं शुद्धता का एक उच्च आदर्श प्राप्त हो गया था।[1]

राष्ट्रकूटकालीन जिला-शासन :—राष्ट्रकूट-शासनकाल दक्षिण भारत के इतिहास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मराठों के पूर्व जैसा महत्त्वपूर्ण स्थान किसी का नहीं था। कृष्ण तृतीय ने रामेश्वरम् तक विजय की। अरब लेखकों के अनुसार राष्ट्रकूट भारत में सर्वोच्च शासक थे। राष्ट्रकूटों का समस्त राज्यों में स्वामित्व

1. Neelkanth Shastri writes thus—

"Between an able bureaucracy and the active local assemblies which in various ways fostered a live sense of citizenship, there was attained a high standard of administrative efficiency and purity, perhaps the highest, ever attained by the Hindu State.

"..... As Landholder, emyloyer and consumer of goods and services, as bank, school and museum, as hospital and theatre, in short as a nucleus which gathered round itself all that was best in the arts of civilised existence and regulated them with

था। अमोघ वर्ष को संसार के चार प्रमुख बादशाहों में गिना गया है। अन्य राजवंशों की तरह भारतीय इतिहास में राष्ट्रकूटों की भी महत्त्वपूर्ण देन है। उन लोगों ने दक्षिण भारत के बहुत बड़े क्षेत्र पर अपना साम्राज्य स्थापित किया और लगभग 250 वर्षों तक उस क्षेत्र में अपनी कुशल प्रशासन एवं संगठन शक्ति का परिचय दिया। राष्ट्रकूटों का शासन विकेन्द्रित था। प्रशासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण राज्य विभिन्न प्रशासनिक इकाईयों में बंटा हुआ था।

साम्राज्य के कुछ भागों पर केन्द्रीय सरकार स्वयं शासन करती थी, किन्तु कुछ भागों पर माण्डलिक सामन्तों के द्वारा शासन होता था। कुछ माण्डलिकों को शासन में पूर्णाधिकार प्राप्त था, उनके अधीन कुछ उपसामन्त भी थे, जिन्हें बहुत कम अधिकार प्राप्त था। किसी भूमि या कर के दान के पूर्व लोगों को अपने सामन्त तथा सम्राट् की अनुमति लेनी पड़ती थी।[1] सामन्त लोग निश्चित समय पर राजधानी में आकर अपनी राजनिष्ठा व्यक्त करते थे। सामन्तों की चाल या कार्य के कारण केन्द्रीय सरकार के मन में जब आशंका उत्पन्न होती थी तो केन्द्रीय सरकार उनपर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयास करती थी। कुछ निश्चित समय पर सामन्त लोग राजा को उपायन देते थे और युद्ध के समय कुछ सेना से भी राजा की सहायता करते थे। कभी-कभी वे स्वयं आकर सम्राट् के युद्ध में सक्रिय व महत्त्वपूर्ण भाग लेते थे। सामन्त लोग अपने राज-दरबार में सम्राट् का एक दूत रखते थे और सम्राट् को समय समय पर प्रतिवेदन भेजा करते थे।[2]

सामन्त लोग यदि विद्रोह करते थे तो उसे दबा दिया जाता था। वैसी दशा में उन्हें अपना सारा खजाना सम्राट् को दे देना पड़ता था। वर्त्तमान काल की भांति उस समय केन्द्र, प्रांत, जिला, और तहसील इत्यादि का विभाजन नहीं हुआ था। सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। इसके पहले मौर्य-काल में ही अखिल भारतवर्ष की स्थापना हुयी थी। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि राष्ट्रकूट-काल में सामन्तों का शासन जिला-शासन के समकक्ष रहा होगा। वर्त्तमान जिलाधीश की तरह इन सामन्तों को भी अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त था। सामन्त लोग केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में शासन करते थे।

पृष्ठ 139 से लगातार

the humaneness born of the spirit of Dharma, the mediaeval Indian temple has few parallels in the annals of mankind."

1. इं० अं० 12. 15; ए० इं० 9. 195।
2. ए० इं० 6, 31.

दक्षिण भारत के अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि राष्ट्रकूट-साम्राज्य का जो भाग सामन्तों द्वारा शासित नहीं था वह राष्ट्र, विषय और भुक्तियों में बंटा हुआ था। ये राष्ट्र विषय और भुक्ति आधुनिक जिले के समान थे। राष्ट्र विषय और भुक्ति से बड़ा होता था। प्रमाणों के अभाव में इनका क्षेत्रिय विभाजन करना कठिन है। पुणकावेषय में एक हजार और कहटिक विषय में चार हजार गांव सम्मिलित थे। भुक्ति, विषय से छोटा होता था, जिनमें प्रायः 70 से 80 ग्राम सम्मिलित थे। कन्नड़ प्रदेश में भुक्ति में 300 ग्रामों के समूहों का भी उल्लेख है। राष्ट्रकूट साम्राज्य की भुक्ति हर्षकालीन भुक्ति के समान कमिश्नरी के समान बड़ा शासन विभाग नहीं थी। भुक्ति में 10 से 20 ग्रामों के चार-पांच गुट रहते थे, जो महत्त्वपूर्ण ग्रामों के नाम से सम्बोधित किये जाते थे।[1] सबसे छोटा शासक-विभाग ग्राम था।

डा० अलतेकर ने ठीक ही लिखा है कि प्राचीन भारत में शासन की व्यवस्था सर्वत्र एक सी नहीं थी। आजकल की भांति राष्ट्रकूट काल में भी कुछ जिले छोटे थे तथा कुछ बड़े। इसका कारण, जनसंख्या और उत्पादन शक्ति की विभिन्नता और राजनीतिक परिस्थितियां दोनों थीं। यदि कोई छोटा सामन्त-राज्य साम्राज्य में मिलाया जाता था तो एक छोटा जिला बन जाता था। दूसरी ओर नये-नये प्रदेश हस्तगत करते-करते सीमान्त के जिले विस्तृत भी हो जाते थे। सम्भवतः राष्ट्रकूटकाल में राष्ट्र, विषय और भुक्ति के छोटे-बड़े होने के यही कारण थे।

राष्ट्र का शासक राष्ट्रपति कहलाता था। अपने विभाग की शासन व्यवस्था व सेना का प्रबन्ध उसके अधीन रहता था। शांति-सुव्यवस्था रखना, कर वसूलना व सामन्तों पर नियन्त्रण करना, उसके मुख्य कार्य थे। जब कभी कोई सामन्त विद्रोह का झंडा खड़ा करता था तो राष्ट्रपति सेना द्वारा अविलम्ब उसे परास्त कर देता था।[2] राष्ट्रपति के पास बहुत से सैनिक रहते थे और प्रायः वह स्वयं उनका नेतृत्व करता था। कभी-कभी वह स्वयं सामन्तों में से एक होता था। राष्ट्रपति के अधिकार गुप्तकालीन उपरिकों के बराबर थे।

आधुनिक कलेक्टर की भांति राष्ट्रपति को राजस्व-विभाग का बहुत-सा कार्य करना पड़ता था। उसे मालगुजारी वसूलना, जमीन मालिकों की सूची तैयार करना, दान दिये हुए ग्रामों को अलग करना आदि कार्य करना पड़ता था। विषयपति को अपने विषय में तथा भोगपति को अपनी भुक्ति में राष्ट्रप्रति के समान अधिकार

1. अलतेकर—राष्ट्रकूटाज; पृ० 138.
2. अलतेकर—राष्ट्रकूटाज, पृ० 179।

थे। उनमें भी कभी-कभी छोटे सामन्त रहते थे। वे भी शासनकला में निपुण और सैन्य संचालन में कुशल होते थे। उच्च श्रेणी के पदाधिकारियों के पद पर उनके पुत्र ही नियुक्त किये जाते थे।

सम्राट् द्वारा नियुक्त विषयपति और भोगपति अपना कार्य नाडगावुंडों या देश-ग्रामकूटों के सहयोग से करते थे। मुस्लिम व मराठा शासन-पद्धति में देशमुख व देशपाण्डे जैसे आनुवंशिक अधिकारी थे, वैसी ही नाडगावुंड वा देश ग्रामकूट भी इस समय थे। उन्हें वेतन के स्थान में जागीर दे दी जाती थी।[1] उत्तर भारत में ऐसी पद्धति नहीं थी।

राष्ट्र, विषय और भुक्ति के अन्तर्गत ग्राम शासन का भी बड़ा महत्व था। ग्राम का शासक ग्रामकूट (मुखिया) राष्ट्रपति, विषयपति और भोगपति की देखरेख में शासन करता था। ग्रामकूट का मुख्य कर्तव्य था ग्राम शांति तथा सुव्यवस्था रखना। उसके अधीन एक छोटी-सी अवैतनिक ग्राम सेना थी जो ग्राम-संरक्षण के कार्य में सहायता पहुंचाती थी। ग्राम में चोरों द्वारा या सामन्तों के विद्रोह से शांति भंग होने की सम्भावना रहती थी। ऐसे समय पर ग्रामकूट को स्थानीय सेना का नायकत्व करना पड़ता था और कभी-कभी अपने गांव की रक्षा के लिए उसे युद्ध भी करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त गांव के कर वसूलना एवं उसे सरकार के पास जमा करना उसका मुख्य कार्य था। वेतन के स्थान पर उसे जागीर के रूप में जमीन मिलती थी। ग्राम में लेखक उसके अधीन अपना कार्य सम्पादन करता था।

अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ग्रामवासियों को भी ग्राम-शासन में पर्याप्त अधिकार प्राप्त था। प्रत्येक ग्राम में एक ग्रामपंचायत रहती थी। गांव के अनुभवी, वृद्ध और सच्चरित्र लोग (ग्राममहत्तर) प्रायः सर्वसम्मति से पंचायत के प्रतिनिधियों को चुनते थे। उनका विधिविहित निर्वाचन नहीं होता था। ग्रामकूट को शासन में सहायता प्रदान करने के लिए पांच उप-समितियां थीं।

राष्ट्रकूट अभिलेखों में 'राष्ट्रमहत्तर' व विषयमहत्तर का उल्लेख मिलता है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि राष्ट्र व विषय के मुख्य नगरों में राष्ट्रपति तथा विषयपति की सहायता करने के लिए एक गैरसरकारी समिति रहती थी और उसका कार्य ग्राममहत्तरों के सदृश ही होगा। यद्यपि राष्ट्रमहत्तरों या विषयमहत्तरों का उल्लेख मिलता है तथापि उनकी समिति का उल्लेख नहीं मिलता है। हो सकता है कि इस अनुल्लेख का कारण केवल अनवधानता हो। यदि ऐसा हो तो गुप्तकालीन बंगाल में दामोदरपुर जिले में जैसी एक जिला-पंचायत थी, वैसी ही राष्ट्रकूटों के

1. अलतेकर—राष्ट्रकूटाज, पृ० 178-9.

राष्ट्रों तथा विषयों में भी एक गैरसकारी समिति शासन-व्यवस्था में सहयोग देती थी और लोगों के इच्छानुसार अधिकारियों पर आंशिक नियन्त्रण भी रखती थी।

राजस्व-विभाग :—राष्ट्र और विषय की आय के स्रोत सामन्तों द्वारा मिलने-वाली बलि, राजकीय वन, भूमि, खान आदि से होनेवाली आपदनी तथा विभिन्न प्रकार के कर थे। सरकार खेतीवाली जमीन पर अपने स्वामित्व का दावा नहीं करती थी। जो जमीनमालिक सरकारी मालगुजारी लगातार कुछ वर्षों तक नहीं चुकाता था उसकी जमीन सरकार द्वारा जब्त कर ली जाती थी।

उस समय मुख्य कर मालगुजारी था जिसे उद्रंग या भोग कर कहते थे। यह 25 प्रतिशत से 33 प्रतिशत तक था और दो या तीन किश्तों में प्रायः अनाज के रूप में वसूल किया जाता था। बलदाय एवं देवदाय भूमियों पर कर की दर कम थी। अकाल के समय कर में छूट दी जाती थी। व्यापार की वस्तुओं पर जो कर लिया जाता था उसको भोग कर कहते थे। उसका कुछ भाग स्थानीय अधिकारियों को वेतन के स्थान पर दिया जाता था। चुंगी तथा उत्पादन कर भी लिये जाते थे। कभी नकद या कभी अनाज आदि के रूप में कर वसूल किया जाता था। दौरा करनेवाले अधिकारियों के भोजन आदि का व्यय ग्रामवासी दिया करते थे। उस युग में भारत के विभिन्न भागों में सामन्तवादी व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी और जिला-शासन तथा ग्राम शासन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामन्तों का नियन्त्रण रहता था। आगे जब हम शिलालेख और साहित्यिक साधनों के आधार पर पद और पदाधिकारियों का विवेचन करेंगे तो यह कथन और भी स्पष्ट होगा। पाल-प्रतिहार और राष्ट्रकूटों का शासनयंत्र (विशेष कर प्रान्तीय और जिला-शासन) सामन्तों के अधीन था और शासकों को इसे स्वीकार करके ही चलना पड़ता था।

छठा अध्याय

प्रशासनिक इकाईयाँ

भुक्ति :— समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भ-लेख से यह सूचित होता है कि कुषाणों का साम्राज्य भुक्तियों और विषयों[1] में बँटा हुआ था। भुक्ति शब्द का व्यवहार, जो गुप्त-लेखों में राज्य इकाई के अर्थ में है, कुछ व्याख्येय है। यह कहा जाता है कि कुषाण और सिलोन के शासकों को श्रद्धांजलि देने और विवाह[2] में पुत्रियाँ प्रदान करने की शर्त्त पर विषय और भुक्ति पर अधिकार कायम रखने दिया जाता था। भुक्ति का शाब्दिक अर्थ होता है "मनोरंजन के लिए कुछ वांछित साधन"। इस काल[3] में पृथ्वी के शासकों के मनोरंजन के लिए ही होने का प्रचार मिलता है।

पाँचवीं शताब्दी से संबंधित कुमारगुप्त के दामोदरपुर ताम्र-लेख अनुदान में उपरिक का वर्णन पुण्ड्रवर्द्धन की भुक्ति में और उसके द्वारा कोटिवर्ष[4] के विषय में नियुक्त कुमारामात्य विद्यवर्मन का वर्णन मिलता है। यही कारण है कि भुक्ति, जो विषय और मण्डल के रूप में ज्ञात है, जिलों का समूह एक प्रांत के रूप में जान पड़ता है। राजा बुद्धगुप्त के शासन-काल के लेख से पता चलता है कि ब्रह्मदत्त पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति का राज्यपाल था। बुद्धगुप्त के पहले भुक्ति का राज्यपाल उपरिक कहलाता था, लेकिन उसके समय में राज्यपाल उपरिक महाराज[5] की उपाधि धारण करता था।

जीवितगुप्त द्वितीय का देवबरनार्क लेख में वरुनिका का ग्राम नगर-भुक्ति[6] में शामिल बताया गया है। यह शब्द पुनः राजा तीवरदेव (800 ई०) के रंगीन ताम्र-लेख में मिलता है, जिसके अनुसार पिम्परीपद्रक का ग्राम पीन्थान-भुक्ति[7] के अधिकार में था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि पहले ग्राम का, तब विषय का और अन्त में भुक्ति का वर्णन-क्रम अनिवार्य नहीं था, यद्यपि हर्ष के समय में यह प्रचलन कम-से-कम एक लेख में दिखाई दे सकता है। उदाहरणस्वरूप हर्ष के मधुवन ताम्र-

1. c. II, III. No. 1, p. 6.
2. Select Inscriptions, p. 258—Ye Bhukta Guptanathairnna.
3. Ibid., p. 4; p. 39.
4. E.I, XV, No. 7, p. 130.
5. E I., XV, No. 7, p 138-39.
6. c. II, III, No. 46, p. 218; Also see—R. K. Chaudhary—*Select Inscriptions of Bihar.*
7. **Ibid**, III, No. 81, p. 298.

लेख से सोमकुण्डका ग्राम की सूचना मिलती है, जो श्रावस्ती[1] भुक्ति में कुन्डधन-विषय के अधिकार में था। वर्धमान भुक्ति, जो छठी शताब्दी में गोपचन्द्र के मल्लसारुल अनुदान में संकेतित है, यह दिखलाता है कि इसमें प्राचीन 'राधा' का दक्षिणी भाग सम्मिलित था। धर्मादित्य के अधीन महाराज स्थाणुदत्त, गोपचन्द्र के अधीन नागदेव और समाचारदेव के अधीन जीवदत्त शाही अधिकार के द्वारा पुण्ड्रवर्धन भुक्ति[2] पर प्रशासन करने के लिए उपरिक नियुक्त किये गये थे। गुप्तों[3] के समय में हर्ष[4] के मधुवन ताम्रलेख में वर्णित श्रावस्ती भुक्ति और हर्ष के बांसखेरा लेख में सूचित अहिच्छत्र भुक्ति स्थित नहीं पाये जाते हैं। इसलिए गुप्तकाल में ये दो भुक्तियाँ नवीन प्रशासनिक इकाइयों के रूप में चित्रित हैं।

पूर्वी भारत में भुक्ति विषय से बड़ी इकाई थी। यह विभाजन हर्ष के राज्यकाल में भी प्रचलित रहा, जैसा कि उनके मधुवन लेख में अंकित है, जो सोमकुन्डका ग्राम को श्रावस्ती भुक्ति[5] में और कुण्डधन विषय के अधिकार में सूचित करता है। इस समय की सुविख्यात प्रशासनिक इकाइयाँ आगे कुछ शताब्दियों तक प्रचलित रहीं। 9वीं शताब्दी में पुण्ड्रवर्धनभुक्ति ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण प्रांत में सबसे वृहत् प्रशासनिक डिवीजन का प्रतिष्ठान एवं अस्तित्व प्राप्त कर लिया, जो प्रांत अपने अधिकार-क्षेत्र में सिर्फ उत्तरी बंगाल को ही नहीं, बल्कि दक्षिण-पूर्वी (समतटा) और बंगाल (बंग) को भी सम्मिलित किये हुए था। इस काल में दूसरी-दूसरी भुक्तियाँ तीरभुक्ति, श्रीनगर भुक्ति, वर्धमान भुक्ति और कंकाग्राम[6] भुक्ति थी।

मध्य भारत तथा उत्तरी डेकान में, जो वाकाटकों के द्वारा शासित था, भुक्ति अत्यन्त लोकप्रिय नहीं दिखाई पड़ता है। लेकिन यह इकाई वाकाटक राज्यों में पूर्णतः अज्ञात थी। प्रवरसेन द्वितीय के शिलालेख में, जो वार्धा जिला में मिला है, असी-भुक्ति[7] में स्थित लता ग्राम में जमीन के अनुदान का रिकार्ड मिलता है। वाकाटक राज्य में ग्राम और भुक्ति के बीच किसी इकाई का वर्णन नहीं है। अतः यह माना जा सकता है कि इस हालत में भुक्ति ग्रामों से निर्मित था, विषयों से नहीं, जैसा कि उत्तरी

1. E.I., I, No. 11, p. 68.
2. Ibid., XXIII, No. 24, p. 159.
3. Ibid, IV, No. 29, p. 208.
4. Ibid., No. 11, p. 68.
5. E. I, I, No. 11, p. 68.
6. B. C. Sen, op. cit., p. 561.
7. E. I., XXIV, No. 37, p. 265.

भारत में पाया जाता था। दूसरे शब्दों में मध्य भारत में भुक्ति देश के उन भागों से छोटा क्षेत्र रखता था, जो भाग गुप्त सम्राटों के प्रत्यक्ष अधिकार में थे। डी० सी० सरकार के अनुसार मध्य और दक्षिण भारत में भुक्ति परगना[1] की तरह राज्य की एक छोटी इकाई है।

धरसेन द्वितीय के नगोवा-लेख मालवक भुक्ति के बारे में, जो मालवक विषय के नाम से ज्ञात है, संकेत देते हैं। इसका अर्थ है कि मालवक मैत्रक-राज्य में भुक्ति और विषय[2] दोनों थे। राष्ट्रकूटों के अधीन भी भुक्ति एक राजकीय डिवीजन था, और इस इकाई का प्रभारी अफसर भोगपति या भोगिका[3] कहलाता था। राष्ट्रकूटों के अधीन भोगपति राष्ट्रपति और विषयपति के साथ-साथ वर्णित नहीं है, क्योंकि वह अनुदानी के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं आता था। गुप्तकाल में विषय की अपेक्षा भुक्ति एक बड़ी इकाई थी, लेकिन राष्ट्रकूट राज्य में यह विषय से छोटी इकाई है। लेखों से ज्ञात भुक्तियों में से कुछ निम्नांकित हैं, यद्यपि प्रस्तुत अध्ययन के सम्पूर्ण काल में उनका अस्तित्व निश्चित नहीं किया जा सकता :—

(1) पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति
(2) नगरभुक्ति
(3) वर्धमान-भुक्ति
(4) तीरमुक्ति
(5) श्रावस्ती भुक्ति
(6) अहिच्छत्र भुक्ति
(7) कन्काग्राम भुक्ति
(8) असी भुक्ति
(9) मालवक भुक्ति
(10) पौन्थन भुक्ति।

भोग—हस्तिन के ए० डी० 508 का भूमर का स्तम्भलेख सर्वनाथ[4] के भोग के सम्बन्ध में जो कुछ बताता है, उससे इस बात की पुष्टि नहीं होती कि वह स्तम्भ हस्तिन और सर्वनाथ के राज्य की सीमा को अलग करने के लिए खड़ा किया गया

1. D. C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, p. 57.
2. **E I**, VIII. No. 20, p. 198.
3. A. S. Altekar, **op. cit.**, p. 137.
4. C. II., III, No., 24, pp. 111-12.

था। इसलिए महाराज सर्वनाथ भोग का स्पष्ट अर्थ है, महाराज सर्वनाथ का राज्य। इस तरह के और उदारहण, सामन्ताधिपति श्रीधर भोग और कैवर्त के भी उस लेख में मिलते हैं।

फ्लीट के अनुसार भोग और भुक्ति एक ही जैसे हैं। डी० सी० सरकार के अनुसार भोग का प्राथमिक अर्थ भोग करना और दूसरा अर्थ सम्पत्ति या जागीर या क्षेत्रीय इकाई है, जो साधारणतः एक जिले[1] के रूप में प्रचलित थी। हस्तिन के मूमर स्तम्भ-लेख (ए० डी० 508) में 'भोग' सम्भवतः राजा के नाममात्र अधिकार के अन्दर गुप्त सामन्त के द्वारा प्रदेश के उपभोग का अर्थ रखता है; किन्तु 'भुक्ति' राजा के प्रत्यक्ष और निकट अधिकार के अन्तर्गत प्रदेश के उपभोग का अर्थ रखता है। कालकुरी युग के लेखों में भोग का अर्थ है, कुछ छोटा राजस्व-क्षेत्र, जो भोगिका के जिम्मे होता था।

बहुत से ताम्रपत्र-दान में किसी गांव का उपहार भोग में अवस्थित बताया गया है। उड़ीसा के अनन्तवर्मन के शिरीपुरम् के धातुपत्रों में पत्तन भोग का उल्लेख मिलता है, जिसे ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का कहा जा सकता है।[2] इन्द्रवर्मन (ए० डी० 550) के गंजाम जिला के जिरजूंगी धातुपत्र में उल्लेख है कि जिजी का ग्राम वोरीखार भोग में अवस्थित था।[3] महाशिवगुप्त के लोधिया धातुपत्रों में वैद्यग्रहका ग्राम ओनी भोग में अवस्थित बतलाया जाता है।[4] उसी शासक के (ए० डी० 616) मल्लारधातुपत्र में कैलागपुर ग्राम तरदमशका भोग में बताया जाता है, जो बाद के लेखों के तलहारी मण्डल के जैसा है।[5]

'भोग' शब्द जो व्युत्पत्ति के विचार से भुक्ति जैसा ही है, विषय के प्रखण्ड के लिए ही प्रयुक्त होता था। विषय राष्ट्र का प्रखण्ड था, जो कृष्णराज प्रथम (ए० डी० 772) के भंडका धातुपत्र और विनयादित्य (ए० डी० 687) के जिगूरी धातुपत्र में उल्लिखित है।[6]

मध्य भारत के वाकाटक राज्य के प्रवरसेन द्वितीय के दूदिया धातुपत्र में कर्मकार ग्राम हिरण्यपुर भोग में बताया गया है। इस शब्द का उड़ीसा में बहुत उल्लेख

1. D. C. Sircar, op. cit., p. 54.
2. E. I., XXIV, No. 9, p. 51.
3. Ibid, XXV, No. 29, p. 287.
4. Ibid, XXVII, No. 50, p. 323.
5. Ibid., XXIII, No. 18, p. 120.
6. Ibid, XV, No. 7, 21; XIX, p. 62.

मिलता है। अतः यह इकाई, जिसे भोग कहते हैं, वाकाटक राज्य एवं उड़ीसा में प्रचलित थी, किन्तु पश्चिमी भारत में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

आहार—आहार शुरू में एक वित्तीय (फिस्कल) इकाई था। यह विचार कि क्षेत्र हाकिमों (अफसर) के भोग के लिए था, सर्वप्रथम अशोक के लेखों में मिलता है, जिसके समय में जनपद को आहार में बाँटा गया था। शाब्दिक रूप से आहार का अर्थ भोजन है, जो शायद आधुनिक जिला या प्रमण्डल के बराबर था।[1] आहार शब्द का उल्लेख गुप्त लेखों में भी मिलता है, यद्यपि यह इकाई मध्य और पश्चिमी भारत में ही थी। प्रभावती गुप्त के पूना धातु-पत्र में सुप्रतिष्ठा आहार में विलबंका ग्राम के पूर्व में एक जमीन के दान का उल्लेख मिलता है।[2] वाकाटक शासक प्रवरसेन द्वितीय के वादगोवा[3] एवं कोठूरका[4] दान में भी आहार का उल्लेख है। सुप्रतिष्ठा आहार का वाकाटकराज्य के एक से अधिक शासक के समय में लगातार जीवित रहना, इस वंश के शासकीय कार्य में इसका (सुप्रतिष्ठा आहार का) महत्व बतलाता है।

ध्रुवसेन प्रथम (ए० डी० 527) के गणेशगढ़ धातु-पत्र से हरियानक ग्राम के सम्बन्ध में पता चलता है, जो हस्तवाप्ता आहरनी ये अक्षशाप प्राप का था।[5] उसी शासक का पलिटाना धातुपत्र बताता है कि जेष्ठका ग्राम अक्षसारका प्रावेश्य के अधीन हस्तवाप्ता आहरनी में था।[6] उसी शासक का दूसरा दानपत्र बतलाता है कि उसके द्वारा बहुत-सी जमीन उसने हस्तवाप्ता आहरनी के मधकनातपस्यतिनीशक ग्राम में दान दी थी।[7] ऐसा लगता है कि आहार और आहरनी वलभि के मैत्रक शासकीय नामों में बिना भेद-भाव के व्यवहार किया जाता था। हमें यह भी पता चलता है कि हस्तवाप्ता आहार या आहरनी एक बड़ी क्षेत्रीय इकाई है, क्योंकि इसके अन्दर बहुत से ग्राम, प्रापस या प्रवेश्या आते थे।

धरसेन द्वितीय के एक दान से खेतका आहार और विषय का पता लगता है। इससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि कभी-कभी आहार या विषय एक अर्थ में

1. R. S. Sharma, op. cit., p. 17.
2. E. I, XV, No. 4.
3. Ibid, XV, No. 16.
4. Ibid, XV, No. 21.
5. Ibid., III, No. 46, p. 319.
6. Ibid, XVII, No. 7, p. 107.
7. E. I., XI, No. 9, p. 110.

व्यवहार किये जाते थे।[1] शिलादित्य षष्ठ के दानपत्र से पता चलता है कि महिल-बली ग्राम, उप्पलहित पथक एवं श्रीखेतका[2] आहार में अवस्थित थे। धरसेन तृतीय के भवनगाई धातु-पत्र में अमाकारकूप गाम को सुराष्ट्र विषय[3] के हस्तवाप्ता आहार में बताया गया है। बाद के लेखों में इस क्षेत्रीय इकाई का उल्लेख नहीं मिलता है। शायद ईसा की आठवीं शताब्दी में यह गायब हो गया।

राष्ट्र—रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख से अर्थ निकाला जा सकता है कि राष्ट्र शब्द का व्यवहार सर्वप्रथम कुषाण राज्य में किया गया था, जब यह इकाई विषय से बड़ी होती थी। लेकिन उस समय यह शब्द उत्तरी भारत में ज्ञात नहीं था। उस समय उत्तरी भारत में राष्ट्र, जो कि क्षेत्रीय इकाई था, शायद देश, मण्डल, सीमा, स्थल आदि के लिए व्यवहृत होता था।[4] अक्सर एक क्षेत्रीय या शासकीय इकाई को, जिसका एक खास नाम होता था, बिना पहले नाम को हटाये हुए दूसरे नाम से भी जाना जाता था। अतः कर्मराष्ट्र[5] विषय एवं गोपराष्ट्र[6] विषय जैसे नामों से पता चलता है कि वह इकाई कर्म और गोप कहलाती थी, जो पहले राष्ट्र थे, लेकिन बाद में विषय बन गये।

मध्य भारत में महाराज हस्तिन के द्वारा पुलिन्द राष्ट्र में 'नवग्राम', ग्राम का दान देने की बात ज्ञात है। ऐहोल—लेख के अनुसार शुरू के चालुक्य राजाओं के क्षेत्र में तीन महाराष्ट्र थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रत्येक महाराष्ट्र बहुत से ग्रामों के समूहों के आधार पर बनाया गया था।[7] विजयराज चालुक्य (ए० डी० 472) के दानपत्र में विषय, राष्ट्र एवं गाम का उल्लेख हुआ है।

इससे यह पता चलता है कि सातवीं शताब्दी में चालुक्य राज्य में राष्ट्र विषय से छोटा होता था। लेकिन राष्ट्रकूट राज्य में एक दूसरे ढंग से था। दन्तिदुर्ग (ए० डी० 755) के समंगद[8] अभिलेख एवं गोविन्द तृतीय[9] (ए० डी० 793) के वभी

---

1. I. A., VII, p. 70.
2. Ibid., VII, p. 99.
3. E. I., XXI, No. 30, p. 181.
4. D. C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, p. 277.
5. I. A., VII, p. 187.
6. Ibid., IX, p. 124.
7. Ibid., VIII, p. 244.
8. I. A., XI, p. 159.
9. Ibid., XVI. p. 24.

दानपत्र में सबसे पहले राष्ट्रपति, तब विषयपति एवं अन्त में ग्रामकूट का उल्लेख मिलता है, जिससे क्षेत्रीय विभाजन के क्रम का पता चलता है। फिर ऐसा भी देखने को मिलता है कि 'कुबूनूरू' ग्राम, जो ब्राह्मण को दे दिया गया था, पुभी[1] राष्ट्र में था। शिवस्कन्दवर्मन का हिरहदगली ताम्रपत्र अभिलेख दूसरों के साथ रत्थीकाओं को इंगित करता है, जिससे पता चलता है कि राष्ट्र पल्लव राज्य में एक शासकीय इकाई था।

देश—यह बौद्ध साहित्य में अधिक मिलता है, क्योंकि उसमें कभी-कभी यह जनपद के लिए भी प्रयुक्त होता है। जैसे मज्झिम जनपद को मज्झिम देश भी कहा गया है।[2] चन्द्रगुप्त द्वितीय (ए० डी० 413) के सांची शिलालेख में नास्ति शहर शुकुली देश में बताया गया है।[3] इसका अर्थ यह है कि मध्य भारत में देश निश्चित रूप से शहर से बड़ा होता था। महाभवगुप्त के कपिलेश्वर दानपत्र में कोशल देश के योध-विषय में दरण्ड ग्राम के उपहार का उल्लेख मिलता है।[4] इससे हम यह कह सकते हैं कि देश सिर्फ शहर से ही बड़ा नहीं, बल्कि उड़ीसा के विषय से भी बड़ा होता था। महाभवगुप्त के दान से पता चलता है कि अरीपी ग्राम कोशलदेश के तुलुम्बाखण्ड में बसा हुआ था। इससे यह कहा जा सकता है कि देश-खण्डों में विभाजित था। यह प्रमाण मध्य प्रदेश के दक्षिणी पूर्वी भाग में ही मिलता है।[5] जूनागढ़ शिलालेख से पता चलता है कि वहाँ प्रत्येक देश में गोप्तृन नियुक्त किया गया था।[6]

मण्डल—क्षेत्रीय इकाई के रूप में गुप्त साम्राज्य के पूर्वीय भागों में ही यह चालू था। धर्मादित्य के एक अभिलेख में 'वारक' का एक मण्डल[7] के रूप में उल्लेख किया गया है। गोपचन्द्र के शासन काल का एक अभिलेख बतलाता है कि वत्स-पालस्वामी ने, जो नव्वेवकाशिका (वारकमण्डल में) व्यापार देखने के लिए बहाल

---

1. E. I., XXXII, No. 9, p. 97.
2. Yazdani (Ed)—*Early History of Deccan*, I, p. 47.
3. C. II, III, No. 5, p. 31.
4. I. A., V, p. 55.
5. I. A., XV, p. 112.
6. C. II, III, No. 59, p. 253—In later period, desa, Visaya and mandala were considered to be synonymous. The grant of Amma II (AD 946) states that the kingdom of eastern Chalukya was called the Venji desa; I. A., VII, p. 16.
7. I.A , XXXIX, p. 200.

हुआ था, जिला-शासन में कुछ शासकीय बातों का समावेश कराया।[1] डी० सी० सरकार[2] बतलाते हैं कि देश, मण्डल, विषय सिर्फ जिला के लिए ही नहीं बल्कि कभी-कभी राज्य या क्षेत्र के लिए भी व्यवहृत होते थे। अतः यह कहना कठिन है कि किसका अर्थ जिला होता था और किसका अर्थ प्रमण्डल। जैसे, महत्थ प्रकाश विषय व्याघ्रटाली मण्डल में था और पुरनाई विषय समतत मण्डल में था; अम्रसन्डिका मण्डल एवं उद्रग्राम मण्डल स्थलीकत्त विषय में थे; गोकलिका मण्डल और हलावर्त मण्डल कोटिवर्ष विषय में थे और खादी विषय को खादी मण्डल भी कहा जाता था। इस तरह से कहा जा सकता है कि कुछ मण्डल में विषय हुआ करते थे और कुछ विषय में मण्डल, जबकि एक ही जिला को कभी मण्डल और कभी विषय कहा जाता था।

मण्डल, जिसमें बहुत से विषय[3] हुआ करते थे, मध्य और पश्चिम भारत में 500 से 750 ए० डी० तक उल्लिखित नहीं हैं। लेकिन इसी क्षेत्र के बाद के लेखों में इसका उल्लेख मिलता है।[4] जयकदेव (ए० डी० 738) के धिनीकी दानपत्र से पता चलता है कि कैसे धीरिका ग्राम, जो भूमिलिका मण्डल में था, उपहार में दिया गया था।[5] टिपेराताम्रात्र अभिलेख से पता चलता है कि उत्तर मण्डल एक शासकीय इकाई था, जिसमें बहुत से बिना नाम के विषय या भुक्ति थे और जो पूर्वी बंगाल के मण्डल की तरह का था।[6] कामरूप मण्डल, जो कमौली पत्र में उल्लिखित है, विषय से बड़ा प्रमण्डल था, क्योंकि इसमें वाडा विषय भी शामिल था। विषय से बड़ा होने के अर्थ में मण्डल गुप्तकाल के देश की तरह ही व्यवहृत होता था। 619 ए० डी० में अमवम्बा ग्राम, जो गंजाम जिले के कंगोडा मण्डल के देवग्राम-विषय में था, एक ब्राह्मण को दिया गया था। इस जगह मण्डल भुक्ति के ही जैसा, लेकिन विषय की अपेक्षा व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[8] 730 ए० डी० में शिवधि-वास ग्राम एक ब्राह्मण को दे दिया गया था, जो कंगोडा मण्डल के किरात तालक

1. **Ibid**, XXXIX, p. 204.
2. D. C. Si car, *Indian Epigraphy*, p. 341.
3. **I.A**, XXXIX, p. 211.
4. Yazdani, **op. cit.**, I, p. 47.
5. **I. A.**, XII, p. 155.
6. B. C. Sen, **op cit.**, pp. 491-492.
7. B. C. Sen, **op. cit.**, p. 491.
8. **E.I**, XXX, No. 44.

विषय में था।[1] अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कंगोडा मण्डल एक बड़ा क्षेत्रीय भाग था, जिसमें एक से अधिक विषय थे।

राष्ट्रकूट राज्य में मण्डल का उपयोग एक क्षेत्रीय इकाई के रूप में होता था, जो राष्ट्र के जैसा होता था। जैसे, दक्षिणी गुजरात लाट मण्डल[2] एवं विंगीराज्य आन्ध्र मन्डल[3] के नाम से जाना जाता था। महेन्द्रपाल (ए० डी० 761) के एक अभिलेख से एक ऐसे गांव के सम्बन्ध में पता चलता है, जो श्रावस्ती मण्डल[4] के वलीका विषय में था और जो श्रावस्ती भुक्ति के जैसा ही था। इस युग के अभिलेखों से निम्नांकित मण्डलों का पता चलता है—

(1) वारक
(2) उत्तर
(3) निगारत
(4) कामरूप
(5) कंगोडा
(6) भूमिलिका
(7) लाट
(8) श्रावस्ती

विषय :—समुद्रगुप्त के इलाहाबाद स्तम्भलेख में कुषाण राज्य में विषय और भुक्ति का उल्लेख मिलता है।[5] दामोदरपुर के पांच में से चार शासन पत्रों (ए० डी० 433 से ए० डी० 533) में कोटिवर्ष विषय पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में बतलाया गया है और यह भी निर्देश किया गया है कि यह विषयपति स्वयंभूदेव के द्वारा शासित होता

1. Ibid., XXX, No. 44—In the later period in the Bangarh grant of Mahipala I and Amgachhi Plate of Vigrahapala III, we see that the mandala was smaller than the visaya which again was a subdivision of the bhukti (EI, XV, p. 324). But from the Combay Plate (AD 930) we see that the mandala was a subdivision of the desa (EI, VII, p. 26).
2. I. A, XII, p. 160.
3. Ibid., XV, p. 172.
4. C. II, III, No. 5, pp. 32-33.
5. C. III, No. 1, p. 6.

था ।[1] दामोदरपुर पत्र में उल्लिखित अनुवहमानक कोटिवर्ष विषय का अर्थ सर्वदा समृद्ध जिला बताया गया है। लेकिन अनुव का ढोने के अर्थ में प्रयोग करना ज्यादे अच्छा होगा क्योंकि यह अर्थ मनु के द्वारा संपोषित है ।[2] अतः अनुवहमानक विषय का अर्थ होना चाहिए भारवाहन करनेवाला जिला। यह 'हस्त्य, अश्व जन भोगेन' श्लोक से ज्ञात होता है, जिसका अर्थ है कि यह जिला गवर्नर के कार्य के लिए हाथी, घोड़ा एवं पैदल सिपाही या इनके व्यय के लिए अर्थ देता था ।[3] इससे यह पता चलता है कि कोटिवर्ष अपने शासक की सेना का व्यय भी वहन करता था ।

कुमारगुप्त प्रथम (ए० डी० 432) के धनेदह ताम्रपत्र से खदतपार विषय के बारे में जानकारी मिलती है, जो कोटिवर्ष की तरह पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का अंग था ।[4] विषय भुक्ति से छोटी इकाई थी। कुमारगुप्त प्रथम और बन्धुवर्मन (ए० डी० 437) के मन्दसोर अभिलेख से पता चलता है कि सम्पूर्ण लाट को विषय कहा जाता था ।[5] सरकार बतलाते हैं कि लाट पश्चिम मालवा के पश्चिम में था और नवसारिका इसका प्रमुख शहर था ।[6] स्कन्दगुप्त के बिहार के एक शिलालेख से जिस पर सम्वत् नहीं खुदा हुआ है, ज्ञात होता है कि अजपुरा शहर एक विषय में बसा हुआ था, जिसका नाम नहीं दिया हुआ है ।[7] वग्घोषवाद दानपत्र में अवदाम्त्रक विषय का उल्लेख हुआ है, जिसका गवर्नर कर्णसुवर्ण के महाराजाधिराज जयनाथ के पांव के पास ध्यानमग्न रहा करता था ।[8] इस तरह इस दानपत्र के अनुसार जो विषयपति होते थे, वे राजा के प्रति ही उत्तरदायी होते थे, उपरिक के प्रति नहीं। यह सम्भव है कि वह राजा के द्वारा ही नियुक्त किया जाता हो ।

समाचारदेव के फरीदपुर दानपत्र एवं घुग्रहरि दानपत्र में वारकमण्डल विषय का नाम उल्लिखित है ।[9] इसका यह अर्थ हो सकता है कि विषय, वारकमण्डल में ही

---

1. E. I, XV, No. 7 (1, 2, 4, 5.), p. 131.
2. Manu, III, 7.
3. E.I., XV, p. 144.
4. Ibid, XVIII, No. 23.
5. C. II, III, No. 18, p. 81.
6. *Selected Inscriptions*, No. I, p. 90.
7. C. II, III, No. 12, p. 52.
8. I. C., VI, 1939-40, p. 155.
9. Ibid., VI, 1939-40, p. 155.

था या यह विषय का ही नाम था। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि वारक पहले मण्डल था और बाद में विषय बन गया। सम्भवतः विषय का नाम वारक-मण्डल है, जिससे यह पता चलता है कि यहाँ मण्डल शब्द का तात्पर्य मण्डल से नहीं है। स्कन्दगुप्त का इन्दौर दानपत्र बताता है कि विषयपति सर्वनाग गंगा और यमुना के बीच (अन्तरवेदी) के राज्य पर शासन करता था।[1] तोरमाड़, जो बुद्धगुप्त के बाद राजनीति में प्रमुख हो गया, उसके ऐरान बोवर अभिलेख से पता चलता है कि धन्यविष्णु ने अपने विषय अरीकिना में एक पत्थर का मन्दिर बनवाया था।[2] जीवितगुप्त द्वितीय के देववरनार्क अभिलेख से पता चलता है कि वरूनिका गाम नगर-भुक्ति में था, जो वलभि विषय में था। हर्ष (ए० डी० 628) के बांसखेरा पत्र से पता चलता है कि उपहार दिया हुआ मर्कट-सागर ग्राम अहिच्छत्र भुक्ति में एवं अंगादित्य विषय[3] के पश्चिमी पथक में था। मधुवन ताम्रपत्र से पता चलता है कि सोमकुण्डिका नाम का एक ग्राम श्रावस्ती भुक्ति के कण्डधानी विषय में था।[4] अतः मध्य भारत में विषय का प्रयोग देश, मण्डल या भुक्ति से छोटे क्षेत्रीय विभाजन के लिए होता था। कभी-कभी विषय और भुक्ति एक ही तरह से व्यवहृत होते थे। अंगादित्य से किस क्षेत्र का बोध होता था, यह मालूम नहीं है।

धरसेन[5] चतुर्थ (ए० डी० 650) के एक दानपत्र में (शिवभागपुर वैश्याग्रतल्या-भूमनि फनगुला पल्लिक ग्रमह), श्लोक के अनुसार ग्राम, भूमि और विषय शासन की तीन इकाइयों के रूप में हैं। जहाँ तक मैत्रक राज्य का सम्बन्ध है, वीरजी बताते हैं कि हस्तवाप्ता आहार, कौनडीन्यापुर विषय और वर्धमान भुक्ति सौराष्ट्र के मुख्य भाग थे। अतः आहार विषय और भुक्ति के ही अर्थ में है।[6] ऐसा ही सही जान पड़ता है। किसी भी मैत्रक अभिलेख में आहार, विषय एवं भुक्ति एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे, इससे बड़ी किसी इकाई का उल्लेख नहीं है। ऐसा लगता है कि ये सबसे बड़ी शासकीय इकाई थे, यद्यपि प्रत्येक का क्षेत्रफल अलग-अलग था। कभी-कभी भुक्ति का अर्थ जिला या विषय भी किया गया है; जैसा कि ध्रुवसेन द्वितीय (ए० डी० 640) के नगोवापत्र में उल्लिखित मालवक भुक्ति के प्रकरण से पता चलता है।

---

1. C. II, III, No. 16. p. 71.
2. C. III, No. 36, p. 159.
3. Ibid, IV, No. 29, p. 208.
4. E.I, I, No. 11, p. 68.
5. I. A., VII, p. 79.
6. K. J. Virji, *Ancient History of Saurastra*, p. 235.

वादामी के चालूक्यों के क्षेत्र में भी इस विभाजन का उल्लेख है। ए० डी० 678 में विनयादित्य ने नलवादी विषय के उलचल ग्राम के पूर्व भूमि का 50 निवर्तन दान दिया था।[1] गोविन्दराज (राष्ट्रकूट) की प्रार्थना पर विक्रमादित्य द्वितीय ने ए० डी० 742 में नरवना गाम, जो कि चिप्रखलाना विषय में था, विभिन्न गोत्र के ब्राह्मणों को दे दिया था।[2] इसका अर्थ है कि विषय एक शासकीय इकाई के रूप में सिर्फ उत्तर भारत में ही नहीं बल्कि डेक्कन में भी प्रचलित था।

वातापी के चालूक्यों के समय विषय सबसे बड़ी शासकीय इकाई था, जबकि बाद में इसका स्थान राष्ट्र ने ले लिया। राष्ट्रकूट एवं उनके वंशजों के अभिलेखों में राष्ट्र, विषय एवं ग्राम का उल्लेख है। वेंगी देश में राष्ट्र को मण्डल कहा गया था, तो तमिल क्षेत्रों में विषय कोट्टम नाडु एवं कुर्रम से मिलते-जुलते थे।[3] लेकिन इसका उल्लेख सब जगह एक ही जैसा मालूम पड़ता है।[4]

हिरहदगली पत्र में विषय के प्रमुख और राष्ट्र के पदाधिकारी का उल्लेख है। पहले विषय एवं बाद में राष्ट्र का उल्लेख है। इससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि पल्लव राज्य के इन भागों में विषय बड़ी और राष्ट्र छोटी इकाई थे।[5] अतः भुक्ति, आहार, मण्डल, देश एवं राष्ट्र से विषय के सम्बन्ध के बारे में चर्चा उचित ही है। ऐसा लगता है कि विषय शासकीय एवं वितीय इकाई थे और अलग-अलग क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न तरह के थे। विषयों के नाम निम्नांकित हैं, यद्यपि ये सभी इस पूरे काल में थे या नहीं, ऐसा बताना कठिन है :—

(1) कोटिवर्ष
(2) खदनपार (पुण्ड्र धन भुक्ति में)
(3) औदंबरिक
(4) बारकण्डल
(5) वलभि (नगरभुक्ति)
(6) अन्तरवेदी
(7) अरिकिना

1. **E. I.** XXII, No. 7, p. 29.
2. **Ibid**, XXVII, No. 23, p. 346.
3. **E. I.**, VIII, 33, p. 315.
4. **I. A**, VIII, p. 20.
5. C. Minakshi, ***Administration and Social life under the Pallavas***, P. 37.

(8) अंगादित्य (अहिच्छत्र भुक्ति)
(9) कुन्डधानी (श्रावस्ती भुक्ति)
(10) शिवभागपुर
(11) लता
(12) कौनदीन्यापुर
(13) नलवादी
(14) चित्रखलाना, तीरभुक्ति में कक्ष, हांद्रेय, चामुण्डा विषयों का नाम मिलता है।[1]

वीथी—कुमारगुप्त प्रथम (ए० डी० 430) के राज्यकाल के कलाईकुरी ताम्रपत्र अभिलेख में स्रग्गवारा वीथी का उल्लेख मिलता है, जिसका मुख्यालय पूर्णकौशिक था और जो कदाचित् पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में बसा हुआ था।[2] विजयसेन के मल्लासखल ताम्रपत्र में वित्रगर्ता ग्राम में आठ कुल्यवापास जमीन के दान का उल्लेख है जो वर्धमान भुक्ति के वाकाटक वीथी में था।[3] यहाँ हम कह सकते हैं कि वीथी भुक्ति से छोटा और विषय से बड़ा होता था। डी० सी० सरकार बतलाते हैं कि करिका ग्राम भुक्ति, जो कि बिहार एवं बंगाल की सीमा पर था, बहुत से वीथियों को मिलाकर बनाया गया था। किन्तु पड़ोस के वर्धमान भुक्ति में वीथी मण्डल में सम्मिलित थे। समाचारदेव के घुग्रहाटी पत्र के अनुसार उपरिक, जो सुवर्ण वीथी का अध्यक्ष था, वारकमण्डल नामक विषय के विषयपति का उच्च पदाधिकारी था।[4] नन्दपुर अभिलेख (ए० डी० 489) में नन्द वीथी का उल्लेख है, जो अम्बिला ग्राम अग्रहार में था, जहाँ शायद विषयपति का मुख्यालय था।[5] घुग्रहाटी दान पत्र में एक ऐसे ही जिला के लिए सुवर्णवीथी नाम लिया गया है.[6]

ऐसा लगता है कि अधिकांश वीथी, जिन्हें हम शिला लेखों या मुद्रालेखों (एपिगाफ) से जानते हैं, सम्भवतः नदियों के किनारे बसे हुए थे। विजयसेन के मल्लासखल

---

1. *Comprehensive History of Bihar*—Published by the K. P. J. R. I, Patna 1974—Inscriptions found recently have disclosed more new names of Bhuktis and Vishayas.
2. I. H. O., XIX, p. 24.
3. E. I, XXIII, No. 24, p. 159.
4. D. C. Sircar, *Indian Epigraphy*, p. 383.
5. E. P, XXIII, No. 8, p. 53.
6. I. C, VI, p. 155.

पत्र के वाकाटक वीथी में राज्य का एक छोटा हिस्सा भी लगा हुआ था, जो दामोदर नदी के उत्तरी किनारे पर था। नन्द वीथी गंगा के किनारे बसा हुआ था।[1] अतः वीथी एक क्षेत्रीय भाग था, जो साधारणतः नदी के किनारे बसा होता था। डी० सी० सरकार का मत है कि वीथी का शाब्दिक अर्थ एक सड़क या बाजार की दूकान है। वीथी का अर्थ एक क्षेत्रीय इकाई भी हो सकता है, जो किसी मण्डल का प्रमण्डल भी था, लेकिन कभी-कभी एक भुक्ति या प्रांत का भाग भी हो सकता था।[2]

मल्लासखल अभिलेख से पता चलता है कि वीथी का अपना कार्यालय या अधिकरण होता था। विजयसेन ने एक जमीन खरीदी, जिसका दान वाकाटक के वीथी कोर्ट में दिया गया। यह पता लगता है कि वाकाटक वीथी के अधिकरण द्वारा बहुत से लोगों को विजयसेन द्वारा दिये गए रुपयों के बंटवारे का काम दिया गया था। इन अधिकारियों को कुलवारकर्त्ता कहा गया है।[3] फरीदपुर दानपत्र[4] से पता चलता है कि वीथी अधिकरण के लिए प्रमुख लोगों की एक सभा थी। निरवृत वाटक के महत्तर सुवर्णशाह, कपिस्थवाटक अग्रहार के महत्तर धनस्वामी, कोदवीर अग्रहार के भट्टवामन स्वामी, गोधग्राम अग्रहार के महदत्य, राज्यदत्त, सालमली-वाटक के जिवस्वामी, वाकाटक के खाडगीहरी, खाडगीगोयका के मधुवालक, खण्ड-जोतिका के खाडगीभद्र नदी एवं हरी, जो विंध्यपुरा के वाहनायक थे, वीथी के अधिकरण के साथ सहयोग करते थे तथा सह-अधिकारी के रूप में आज्ञा पत्र निकालते थे। अतः जो लोग वीथी अधिकरण के कामों को देखते थे, वे लोग वीथी के अलग-अलग हिस्सों से आये हुए महत्तर ही नहीं, बल्कि अभिलेखों में उल्लिखित प्रधान व्यावहारिन की जगह पर आये दूसरे लोग भी होते थे। उसमें कम-से-कम दो ब्राह्मण थे, जिनका नाम भट्टवामनस्वामी एवं जीवस्वामी था। श्रीदत्त, महीदत्त एवं राज्यदत्त के नामों के साथ कोई अधिकारिक नाम नहीं लगा हुआ था। उनमें तीन खडगी (तलवारधारी) एवं एक वाहनायक (घुड़सवारों के नेता या परिवहन के अधीक्षक) भी थे। इससे पता लगता है कि अलग-अलग व्यवसाय एवं जाति के लोग वीथी अधिकरण में प्रतिनिधित्व पाते थे। चूँकि सेना के लोग बहुमत में नहीं थे अधिकरण में उनकी संख्या सन्तोषपूर्ण थी।

स्थली—वल्लभी के धरसेन प्रथम के दानपत्र में महेश्वर दासेन का जो हस्तवाप्ता

1. **E. I**, XXIII, No. 8, p. 53.
2. D. C. Sircar, *Indian Epigraphy*, p. 383.
3. **E. I.**, XXII, No. 25, p. 155.
4. E. C. Sen, **op. cit.**, p. 493.

आहरनी में एवं देवभारपल्लिक 'धराकेथ'[1] स्थली में थे, ऐसे दो ग्रामों का उल्लेख है। इसी तरह से धरसेन द्वितीय के झार दानपत्र में, दीपरक पेठ में अवस्थित वाट ग्राम के विल्वखान स्थली में होने का उल्लेख है।[2] इसी राजा के (ए० डी० 571) पलिटाना दानपत्र में वामभवनाक स्थली, निम्बकूप स्थली एवं कदम्बपल्ल स्थली में भूमि के दान का उल्लेख है।[3] इन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि स्थली गाँव से बड़ी इकाई थी। इसके अलावे शिलादित्य प्रथम के वालाताअपत्र अभिलेख से पुण्ड्रकूपिका ग्राम एव तीन दूसरे ग्रामों में भूमि के दान का उल्लेख है। एक ग्राम में अनेक स्थली होते थे, जैसे, उक्तापद्र' कविकजा, ज्रिद्रानीपरक, पुष्यनाक आदि।[4] परन्तु उन स्थलियों का बहुत बड़ा भाग नहीं होता था। विल्वखोट, झड़ी, वटपल्लिका आदि के मुख्यालय 40 मील के अन्तर पर थे और उनका सम्पूर्ण क्षेत्र करीब 100 मील का था।[5] वल्लभी के दो दानपत्रों में सुवर्णकिया ग्राम का पूर्वी भाग सिनवर्तक स्थली में बताया जाता है।[6] धरसेन द्वितीय के भादवा ताम्रपत्र में इसीकणक ग्राम अम्बरेनु स्थली में बताया जाता है।[7] पश्चिमी भारत के शासकीय भागों का नाम पूर्वी एवं मध्य भारत के शासकीय नामों से अलग है। पूर्वी भारत में जिला को विषय कहा जाता था, लेकिन वल्लभी दानपत्र में जिला के प्रमण्डलों को स्थली कहा गया है।[8]

पेठक—पश्चिमी भारत में क्षेत्रीय भाग का नाम पेठक बार-बार आता है। धरसेन द्वितीय (ए० डी० 572) के झार दानपत्र में वन्द्रीजिद्री पेठक में असीलपाल्लिक ग्राम के दान का उल्लेख है, जो खेतकाहार विषय में था।[9] उसी के दूसरे दानपत्र में कटा पेठक के वसंतग्राम का उल्लेख है, जो बाद में सुराष्ट्र का एक अंग बना।[10] धरसेन चतुर्थ को एक आज्ञा के अनुसार खेतकाहार में शिम्वपल्लिक पेठक में देवुरक्षि-तिजा ग्राम नारायणमित्र नामक ब्राह्मण को दान देने का उल्लेख है।[11] बम्बुआ-आहार

1. I.A, VI, pp. 12.
2. Ibid, XV, p 187
3. E.I., XI. No. 15, p. 155.
4. I. A, XV, p. 330;
5. Virji. op. cit, p. 329.
6. E. I, XXX, No. 39, p. 299.
7. A. B. O. R. I. IV, 1921-22, p. 34.
8. D. C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, 22..3p
9. I. A, VII, p. 72.
10. I. A, VI, p. 15.
11. Ibid, VII, p. 75.

के दो दानपत्रों के अनुसार कहा जा सकता है कि पेठक में एक स्थली भी शामिल था।[1] धारसेन तृतीय के भावनगर पत्र में दमक ग्राम कालापक पेठक में बताया गया है।[2] शिलादित्य[3] तृतीय (ए० डी० 667) का जेशरपत्र कुक्कपद्रस ग्राम कालापक पेठक में बताया गया है। शिलादित्य सप्तम (ए० डी० 776) के अलीनाताम्रपत्र में बताया गया है कि महीलबट ग्राम खेतकाहार के उपलहट पेठक में था।[4] सातवीं शताब्दी के एक गुर्जर ताम्रपत्र में सभीपद्रक ग्राम का उल्लेख है, जो कोरीला पेठक में शामिल था।[5] धारसेन चतुर्थ के दानपत्र में पेठक एक भाग के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें कुछ ग्राम शामिल थे। विक्रत्तपुत्र ग्राम के दान का भी उल्लेख किया गया है, जो सुराष्ट्र के कालापक पेठक में था।[6] यहां पर ध्यान देने की बात है कि चार क्षेत्रीय इकाइयों—ग्राम, पेठक, आहार और विषय का उनके महत्त्व के अनुसार उल्लेख किया गया है। अतः पेठक ग्राम से बड़ा एवं आहार तथा विषय से छोटा था। डी० सी० सरकार कहते हैं कि पेठक ग्रामों का एक समूह होता था, जो बाद के परगना की तरह का था।[7]

उड़ीसा में शैलोदभव शासक माधव वर्मन ने पुईपीन ग्राम को दान में दिया था, जो गुड्डा विषय के खडेरापहक में था। पूर्वी भारत में पेठक को पहक कहा जाता था, जो ग्राम से बड़ा एवं विषय से छोटा होता था।[8] हर्ष के बांसखेरा दानपत्र से पता चलता है कि मर्कट सागर नामक ग्राम अहिच्छत्र भुक्ति में एवं अंगदित्य विषय के पश्चिमी पेठक में था।[9] पुलकेशिन द्वितीय के लोहनर पत्र के अनुसार डेक्कन में पेठक ग्राम से बड़ी क्षेत्रीय इकाई था। हम पाते हैं कि असीनिटक ग्राम मोसिनी पेठक में था।

---

1. **E. I**, XI, No. 5, p. 80.
2. **Ibid**, XXI, No. 30, p. 184.
3. **Ibid**, XXI, No. 36, 209.
4. C. II, III, No, 46, p. 216.
5. I. A., XIII, p. 80.
6. **Ibid**., I, p. 16.
7. D. C. Sircar, **op. cit**. p, 243.
8. **E. I**. III, No. 6, p. 44.
9. **Ibid**, IV, No. 29, p. 208.

Under the Gahadavala dynasty in the later period Pathaka was called Pattala. The Chandravati inscription records the gift of Kathehali Pattala wi h the exclusion of 36 villages.

पेठ :—पेठ, जो पट्टपति और पट्टिका के समकक्ष है, मध्य भारत के वाकाटक एवं परिव्राजक तथा पश्चिमी भारत के मैत्रकवंश के शिलालेखों या मुद्रालेखों (एपिग्राफ) में उल्लिखित पाया जाता है। पेठ का अर्थ हैं—एक बाजार या बिक्री की एक जगह या किसी शहर में दूकानों की लम्बी कतार। शंकरसभा (ए० डी० 529) के खोहपत्र के अनुसार ओपानी-ग्राम का आधा हिस्सा मनिनाग पेठ में था। महाराज सर्वनाथ (ए० डी० 533) ने अभिलेख के अनुसार व्याघ्रपल्लिक एवं काकरपल्लिक ग्राम मणिनाग पेठ में थे।[2] धारसेन द्वितीय (ए० डी 571) का झारताम्रपत्र बतलाता है कि वलग्राम, ग्राम दीपानक पेठ एवं विल्वखात स्थली में था।[3] इससे पता चलता है कि पेठ ग्राम से बड़ा एवं स्थली से छोटा था। लेकिन परिव्राजक रिकार्डों में स्थली का उल्लेख नहीं है। इससे पता चलता है कि परिव्राजक के पेठ एवं मैत्रक के स्थली एक ही तरह के थे।

पट्ट :—सुराष्ट्र में एक जिला उत्तरी एवं दक्षिणी—दो भागों में विभक्त होता था और प्रत्येक में बहुत से ग्राम होते थे। मध्य भारत के परिव्राजक महाराजाओं के यहाँ भी संभवतः ऐसी ही व्यवस्था थी। परिव्राजक महाराजा हस्तिन (ए० डी० 483) के खोह ताम्रपत्र-दानपत्र के अनुसार कोरपरिक अग्रहार उत्तरीपट्ट में अवस्थित था।[4] सोहताम्रपत्र से ही पता चलता है कि धवसण्डिका ग्राम वोटसन्तिका में बसा हुआ था। महाराज हस्तिन के कागजों (रिकर्डों) में पट्ट एक जिला के रूप में उल्लिखित है।[5] मैत्रक अभिलेखों में भी इसका उल्लेख किया गया है। वेन्टिया दानपत्र में कौन्दीयापुर विषय के उत्तर पट्ट में एक ग्राम का उल्लेख है।[6] इसी तरह से ध्रुवसेन तृतीय (ए० डी० 654) के वल्लभी दानपत्र में पहपद्रक ग्राम सर्वभागपुर विषय के दक्षिण पट्ट में बताया गया है।[7] पट्ट का छोटा रूप पट्टी हैं, जिसका मतलब कन्नड़ में जमीन के एक छोटे भाग से है। चालुक्य राजा विजयराज (ए० डी० 473) के दानपत्रों में पट्टिका शब्द इसी अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[8] यह शब्द रुद्र--

1. C. II, III, No. 25, p. 115.
2. Ibid., No. 31, p. 138.
3. I. A., XV, p. 187.
4. C. II, III, No. 22, p. 104.
5. Ibid., III, No. 22, p. 104.
6. E. I., XXI, No. 30, p 184.
7. Ibid., I, No. 13, p. 92.
8. I. A., VII, p. 250.

दामन के जूनागढ़ शिलालेख में व्यवहृत दक्षिण पथ से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।[1]

प्रविश्य या प्राप—ध्रुवसेन प्रथम (ए० डी० 527) के पलिटाना दान पत्र में जेष्ठानक ग्राम हस्तवाप्ता आहरनी के अक्षसारक प्रविश्य में बताया गया है।[2] उसी राजा एवं उसी वर्ष के गणेशगढ़ पत्र में हरियानक ग्राम के उद्धार का उल्लेख है, जो हस्तवाप्ता आहरनी के अक्षसारक प्राप प्रमण्डल में उल्लिखित है।[3] हुल्स का कहना है कि प्राप का अर्थ एक प्रमण्डल होता था जबकि स्टेनकोनो प्रापीया को प्रविश्य के समानार्थक बताते हैं, जो महासुदेव[4] के खेयार पत्र में उल्लिखित है। अक्षसारक प्रविश्य का अर्थ कोनो के अनुसार वह है जो अक्षसारक से प्रवेश करता है या जो अक्षसारक से सटा हुआ है।[5] शुशंकर हुल्स से सहमत हैं, जो प्राप से ही प्राप्य शब्द निकला समझते हैं और जिनके अनुसार यह आहार से छोटा क्षेत्रीय भाग था।[7] लेकिन वीरजी के अनुसार इसका अर्थ है—कहीं से जहाँ पहुँचाया जाय—या—जो पड़ोस में बसा हुआ हो; और दोनों का अर्थ है—"सीमा पर"। डी० सी० सरकार कहते हैं कि प्रविश्य शब्द "बसा हुआ" के अर्थ में भी लिया जा सकता है, लेकिन इसका अर्थ किसी ग्राम के दूसरे ग्राम के साथ राजस्व के सम्बन्ध में भी हो सकता है। अतः हस्ति शिर्वा प्रविश्य तपसा पोट्टक एवं शिवदी प्रविश्य काण्डलीवाड़ ग्राम का अर्थ यह भी हो सकता है कि काण्डलीवाड़ ग्राम की मालगुजारी शिवदी ग्राम के साथ निश्चित हुई थी। पश्चिमी भारत के कागजातों (रिकार्डों) में 'प्रविश्य' शब्द का व्यवहार बहुत कम हुआ है और पूर्वी भारत में सिर्फ सुल्तानपुर ताम्रपत्र में इसका उल्लेख है। यही कारण है कि इस शब्द को किसी अन्य अर्थ, जैसे—राजनीतिक भाग आदि—के अर्थ में नहीं लिया जा सकता।

पुर:—कुमारगुप्त प्रथम एवं बन्धुवर्मन (ए० डी० 474) के मन्दसौर अभिलेख

1. E. I., VIII, No. 6. p. 44.

   In Karnataka the administrative unit Pattana seems to mean territorial division longer than madamba and lower than donamukha—E. C, VII, p. 118.
2. E. I, XVIII, No. 7, pp. 107-108.
3. Ibid, III, No. 46, p. 323,
4. I. A, V, p. 20.
5. E. I., XI, No. 9, p. 110.
6. E. I., III, No. 46, p. 319.
7. D. C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossory*, p. 263.

में दासपुरा का उल्लेख है जो आजकल दासोर कहा जा सकता है।[1] वैसे ही सरभपुर नामक एक स्थल है, जहाँ से राजा महाजयराज का अरंगपत्र निकला था।[2]

द्रङ्ग :—धारसेन प्रथम के अभिलेख में द्रंगिक का उल्लेख है, जिसका बूहलर ने शहर का प्रधान (मुख्य) होने के अर्थ में अनुवाद किया है।[3] गुहासेन (ए० डी० 556) के वल्लभी दानपत्र में मण्डली द्रंग में एक ग्राम के दान का उल्लेख है, जिसका आदेश द्रंगिक को भेजा गया था।[4] उसके पुत्र धारसेन द्वितीय के राज्यकाल में यह इकाई प्रचलित रही होगी और इसी के प्रधान को द्रंगिक के नाम से जाना जाता था।[5] अतः पुर और द्रंग में अन्तर यह है कि पुर एक भुक्ति या जिला के मध्य एक शहर था; सम्भवतः यह विषयपति या उपरिक का मुख्यालय भी था, लेकिन द्रंग एक सरहदी शहर था या सिर्फ पहरा देने का एक स्थल।

अग्रहार ग्राम—अग्रहार गुप्तकालीन एक हिन्दू संस्था है, किन्तु इसका उल्लेख अर्थशास्त्र में भी है। गया विषय में रेवतीका ग्राम, जो समुद्रगुप्त के ताम्रपत्रों में उल्लिखित है, एक अग्रहार था।[6] इस दानपत्र से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि अग्रहार शिक्षित ब्राह्मणों को दिये जाते थे, जिसमें मुफ्त मजदूर एवं उपरिकर की सुविधा मिलती थी। इसके अतिरिक्त अग्रहार का दान मुख्यतः धार्मिक कार्यों के लिए होता था। बिहार के स्कन्दगुप्त[7] के स्तम्भलेख में भी, जो समुद्रगुप्त के गया-पत्र से अधिक विश्वसनीय है, कुछ अग्रहारों का उल्लेख है। इसमें तीन हिस्सों का भी उल्लेख है, जो किसी अनन्तपेन के द्वारा अजपुरा शहर में दिये गये थे। साथ ही, इसमें अग्रहारिक नामक एक कार्यकर्ता का भी उल्लेख है। इससे यह पता चलता है कि अग्रहार बहुत से हिस्सों में बंटा था, जो दान में दिये जाते थे। महाराज हस्तिन[8] (ए० डी० 483) के खोह ताम्रपत्र में कोरपारिक अग्रहार का उल्लेख है, जो इस राजा द्वारा कुछ ब्राह्मणों को उतरपट्ट में उद्रंग एवं उपरिकर के साथ दे दिया गया था। इन गाँवों में किसी भी तरह की सेना नहीं घुस सकती थी। इस दान के साथ यह भी आश्वासन होता था कि भविष्य में राजा के वंशज या दूसरे

1. C. II, III, No. 18, p. 82.
2. **Ibid**, III, No. 40, p. 193.
3. I. A, IV, p. 105.
4. **Ibid**, IV, p. 175.
5. C. II, III, No. 33, p. 147.
6. **Ibid**., III, No. 60, p. 57.
7. **Ibid**., III, No. 12, p. 51.
8. C. II, III, No. 23, p. 109.

जमींदार (सामन्त) इसके उपभोग में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इससे यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि दान देनेवाला उद्रंग एवं उपरिकर नामक दो कर भी निश्चित कर देता था। दूसरे, अग्रहार में पुलिस (चाट) या सेना (भट) नहीं घुस सकती थी; तीसरे, ऐसे दान विद्वान ब्रह्मण को ही दिये जाते थे; चौथे, ऐसा दान सदा के लिए होता था और यह दान देनेवाले के अधीनस्थ दूसरे जमीदारों पर भी लागू होता था। दान पानेवाले कुछ लोगों को बेचने का भी अधिकार होता था। ध्रुवसेन प्रथम[1] (ए० डी० 529) के भावनगर पट्टा एवं शिलादित्य[2] सप्तम् के अलीनाताम्रपत्र से पता चलता है कि दान लेनेवालों को स्वयं खेती करने अथवा दूसरे से भी खेती करवाने का अधिकार प्राप्त था।

महाराज जयनाथ[3] (ए० डी० 497) के खोह ताम्रपत्र के अनुसार धरण्डिका अग्रहार एक मन्दिर को इसकी मरम्मत एवं बली, कारू और सत्र जैसे त्योहारों को मनाने के लिए दान में दिया गया था।

अफसाद शिलालेख के अनुसार, जो छठी शताब्दी का है, दामोदरगुप्त ने धर्म एवं शैक्षणिक संस्थाओं के निर्वाह के लिए 100 अग्रहार ग्राम गुणी ब्राह्मणों को दे दिये थे।[4] शाहपुर प्रस्तर-प्रतिमालेख (ए० डी० 673) के अनुसार आदित्य सेन के राज्य काल में नालन्दा एक विशाल अग्रहार था। इससे पता चलता कि गुणी शालरक्ष जो बलाधिकृत था, अपने माता-पिता की सेवा एवं अपने धार्मिक गुणों के विकास के लिए नालन्दा महा अग्रहार में कुछ धार्मिक उपहार दिये।[5] महासामन्त एवं महाराज समुद्रसेन के नीरमण्ड ताम्रपत्र में ब्राह्मणों की भलाई के लिए अग्रहार के दान का उल्लेख है।[6] बाण के अनुसार थानेश्वर अग्रहार में विद्वान ब्राह्मणों ने तर्कशास्त्रियों की एक सभा कायम की, जिसमें तर्कशास्त्र की चर्चा होती थी और मीमांसा में उनकी अत्यधिक रुचि थी।[7] बाण पुनः कहते हैं कि अग्रहार रखनेवालों को खेती के विविध उपाय मालूम थे; ये सिर्फ धार्मिक एवं शैक्षणिक कार्यों में ही नहीं लगे रहते थे। यात्रा के दौरान अग्रहार के रहनेवालों ने हर्ष का दही, छोवा (गुड़) एवं चीनी

1. E. I., XIV, No. 18, p. 230.
2. C. II, III, No. 40, p. 193.
3. C. II, III, No. 27, pp. 123-24.
4. Ibid, III, No. 42, p. 206.
5. Ibid., III, No. 43, p. 210.
6. Ibid., III, No. 80, p. 290.
7. H.C, p. 71.

से स्वागत किया था।[1] 'हर्षचरित' के अनुसार, एक सैनिक चढ़ाई के उपलक्ष में हर्ष ने एक सौ ग्राम 1000 हल के साथ (जो करीब 1000 एकड़ के बराबर था) ब्राह्मणों को मध्य देश में बांट दिया था।[2] 'कादम्बरी' में ऐसे लेखकों का उल्लेख है, जो तारापीड के राजमहल में हजारों शासन लिखने में लगे हुए थे। यहां शासन का अर्थ अगर आज्ञा-पत्र है तो इसका अर्थ है कि ब्राह्मणों को बहुत-सी जमीन दान में दी गयी थी।[3] 'हर्षचरित' में बहुत-से नकली एवं असली अग्रहारिक का उल्लेख है, यद्यपि गांवों की संख्या का उल्लेख नहीं है।[4] अतः इस काल में अग्रहार एक शासकीय इकाई था।

---

1. H. C., p. 212.
2. Ibid., p. 203.
3. V. S. Agrawala, *Kadambari*., p. 99—f.n. 1.
4. H. C , p. 212.

प्रमुख पदाधिकारियों का विश्लेषण

प्राचीन भारत में प्रदेश, भुक्ति और विषयों के पदाधिकारियों के नाम में इतनी समानता है कि उन्हें एक दूसरे से अलग करना कठिन हो जाता है। जो पदाधिकारी किसी स्थान में प्रान्त के लिये आते हैं वहीं दूसरी जगहों में भुक्ति और विषय में पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्राचीन भारत में प्रशासनिक इकाइयां आज की तरह निर्धारित नहीं थी और स्थान-विशेष और समय-विशेष को ध्यान में रखकर पदाधिकारियों का नामांकन किया जाता था। सामन्तवाद के विकसित होने के बाद इसमें और भी दिक्कतें पैदा हो गयीं और सामन्त लोग बड़ी-बड़ी पदवियों से विभूषित होने लगे और तदनुरूप अपने कर्मचारियों के सम्बन्ध में भी वैसा ही करने लगे। ऐसी स्थिति में पदाधिकारियों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना संभव नहीं है। फिर भी, विभिन्न साधनों के अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित पदाधिकारियों का विश्लेषण में अपने जिला-शासन के अध्ययन के सन्दर्भ में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

1. **कुमारामात्य** —कुमारामात्य शब्द का अर्थ युवराज का मन्त्री होता है।[1] बुलाक इस शब्द को राजकुमार के मन्त्री[2] के रूप में ही ग्रहण करता है। मार्शल इस शब्द को राज्य उत्तराधिकारी के सभासद के अर्थ में लेता है। पुनः बुलाक इसे ऐसे व्यक्ति के रूप में लेता है, जो बचपन से ही राजा की सेवा में रहा हो।[3] डी० सी० सरकार के अनुसार कुमारामात्य का अर्थ सम्भवतः एक अमात्य है, जो कुमार के अस्तित्व को प्राप्त करता हो। तमिलपिलाइगल-तानम, पिलाई (राजकुमार) का अर्थ है एक पदाधिकारी का पद श्रेणी, जो मुख्यतः शाही परिवार के जूनियर सदस्यों से बनी हुई हो।[4] लेकिन उपाधि की जाँच शिलालेखों से प्राप्त सूचना के प्रकाश में ही करदी होगी। कुमार-गुप्त के समय के करमदण्ड शिलालेख से यह पता चलता है कि शिखरस्वामिन् और उनका पुत्र पृथ्वीसेन कुमारामात्य थे और वे ब्राह्मण जाति के होते थे। इस हालत में कुमारामात्य को एक पारिभाषिक (हेक्निकल) पदाधिकारी के उपाधि के रूप में ग्रहण किया

1. C. II, III, No. 1, p. 16.
2. **A.S.R.**, 1903-4, p. 103.
3. **E.I.**, X, No. 12, p. 50.
4. D. C. Sircar, **op. cit.**, p. 166.

जाता है, जो कुमार या अमात्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता था।[1] समुद्रगुप्त[2] का इलाहाबाद प्रशस्ति में हरिषेण को ही कुमारामात्य के रूप में वर्णित किया गया है। दूसरा शिलालेख मन्त्रिन्—कुमारामात्य के द्वारा प्रदत्त दान को अंकित करता है, जो बाद में महाबलाधिवर्त्ता होता था और जो चन्द्रगुप्त द्वितीय[3] के मन्त्रिन् कुमारामात्य का पुत्र था। इन दशाओं में कुमारामात्य एक राजकीय सार्वजनिक अधिकारी होता था, युवराज का सभासद नहीं। यह माना सकते हैं कि अर्थशास्त्र के अमात्य की तरह, यद्यपि उस हद तक नहीं, गुप्तकाल का कुमारामात्य पदाधिकारियों के जातिगत वर्ग की उपाधि था, जिनमें से राज्य का उच्च पदाधिकारी का चयन होता था।[4]

कुमारगुप्त प्रथम (ए० डी० 450) के शासनकाल से सम्बन्धित दामोदरपुर सातुलेख नम्बर 1 और 2 से हमें यह सूचना मिलती है कि उपरिक महाराज जयदत पुण्ड्रवर्धन प्रान्त का शासन करता था और कुमारामात्य वेत्रवर्मन, जो उसके द्वारा विषयपति नियुक्त हुआ था, कोटिवर्ष विषय में जिला-मुख्यालयों के कार्यालय का प्रशासन करता था।[5] बुद्धगुप्त और भानुगुप्त के शासन-काल से सम्बन्धित दो दूसरे रिकार्ड न० 4 और 5 यह प्रदर्शित करते हैं कि उनके समय में, जब पुण्ड्रवर्धन-उपरिक-महाराज के द्वारा शासित होता था, कोटिवर्ष-विषय का प्रशासन क्रमशः विषयपति और आयुक्तक के द्वारा किया जाता था।[6] इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि उत्तर—बंगाल के प्रान्त में कुमारामात्य ही कार्य करते थे, जो बाद में विषयपति को सौंपे गये थे।

बसाढ़—मुद्राओं से तिरभुक्ति प्रान्त में कुमारामात्य एवं विषय-प्रशासन के सम्बन्ध में सूचना मिलती है।[7] बसाढ़-मुद्राओं में तिर-मुक्ति-उपरिकाधिकरणस्य एवं तिर-भुक्ति-कुमारामात्य-अधिकरण का वर्णन मिलता है।[8] इन्हें क्रमशः तिर-भुक्ति प्रान्त के प्रभारी उपरिक को सूचित करने और मुख्यालय में, जो 'तिर'

1. V.R.R. Dikshiter, ***Gupta Polity***, p. 152.
2. C. II, III, No. 1, p. 6.
3. **E.I.**, x, No. 2, p. 15.
4. ***Proceedings of A.I.O.C.***, 1930, p. 212.
5. **E.I.**, XV, No. 7, (1, 2,).
6. **Ibid.**, XV, No. 7 (4, 5).
7. ***Proceedings of A.I.O.C.***, 1930 p.213,
8. **A.S.I.R.**, 1903, 04, p. 119,

कहा जाता था, स्थित कुमारामात्य को सूचित करने के लिए ले सकते हैं।[1] इसके अतिरिक्त बसाढ़ मुद्रा नम्बर 4,5,7 युवराजपदीय-कुमारामात्य अधिकरण को सूचित करते हैं।[2] मुद्रा नम्बर 6 और 7 में श्री युवराज भट्टारक पदीत्य कुमारामात्य अधिकरण नामक मुहावरा है। मुद्रा न० ८ परमभट्टारक पदीत्य कुमारामात्य अधिकरण बताता है। आर० डी० बनर्जी 'पद' का अर्थ समान समझते हैं और युवराज भट्टारक को वास्तविक निश्चित उत्तराधिकारी के अर्थ में एवं उन युवराजों से भिन्न अर्थ में, जो शाही परिवार के होते थे ग्रहण करते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि कुमारामात्यों में से कुछ शाही वंश के राजकुमारों के समान रतर के समझे जाते थे। भीटा में मार्शल के द्वारा प्राप्त एक मुद्रा में महाश्वपति महादण्डनायक-विष्णुरक्षिता पादानुध्यात् कुमारामात्य अधिकरणस्य उल्लिखित है।[3] 'पादानुध्यात्' शब्द सामन्त या पदाधिकारी का अपने राजा के प्रति अथवा एक पुत्र या छोटे भाई का अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए सम्बन्ध सूचित करता है।[4] प्रत्यक्ष रूप से कुमारामात्य अपने पद को इतना महत्वहीन समझता था कि वह अपने पद रूप में अपना सम्बन्ध अपने पिता के साथ ज्ञात होना पसन्द करता था, जो एक विशिष्ट महत्व रखता था। यदि इस तर्क में कोई बल है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बसाढ़-मुद्राओं पर युवराजपादीय कुमारामात्य अधिकरण युवराज के सम्राट् के पुत्रों के रूप में ही सूचित करते हैं।[5]

महाराज नन्दन (सी० डी० 551) का अमोना धातु-लेख हमें एक राजकुमार से परिचित कराता है, जो अपने को देवगुरु पादानुध्यात कुमारामात्य के रूप में मानता है।[6] ऐसा लगता है कि वह एक स्वतन्त्र राजा के रूप में व्यावहारिक रूप से शासन करता था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण लोकनाथ के रकार्ड का प्रमाण है, जो सम्भतः उत्तरगुप्तों के सामन्त के रूप में 7वीं शताबदी ए० डी० के उत्तरार्द्ध में पूर्वी-बंगाल में शासन करता था।[7] मुद्रा से यह संकेत मिलता है कि लोकनाथ का पूर्वज गुप्त सम्राटों के अधीन कुमारामात्य के रूप में सेवा करता था और बहुत बाद में जब उसके वंशजों ने व्यावहारिक स्वतन्त्रता प्राप्त की, तो उन्होंने इस उपाधि को ही नहीं, बल्कि प्रारम्भिक-काल के समान मुद्राओं को भी धारन करना

1. **Ibid.**, 1913-14, p. 134,
2. **A.S.I.R.**, 1913-14, p. 108,
3. **A.S.I.R.**, 1911, 12, p. 52.
4. C. II. III, No-1, p. 17.
5. ***Proceedings of A I O..C***, 1930, p 214.
6. E.I. X, No. 1, p. 12.
7. **Ibid.**, XV, p. 19.

जारी रखा।[1] कुमारामात्य शब्द मधुबन ताम्रपत्र,[2] हर्ष के बांसखेरा लेख[3] और धारसेन द्वितीय[4] के दो वल्लभी अनुदानों में भी वर्णित है।

महाकुमारामात्य की नियुक्ति स्पष्टतः कुमारामात्य के ऊपर साधारण नियन्त्रण और उसके आचार को प्रदर्शित करने के लिए पालों के अधीन होती थी। महाकुमारामात्य की नियुक्ति यह बात बतलाती है कि उत्तरकाल के पाल राजा शाही प्रणाली की उन अन्दरूनी बुराइयों और आफतों से पूर्णतः अवगत होते थे, जो प्रायः प्राचीन राज्यपाल के भ्रष्ट एवं ढीले प्रशासन से उत्पन्न होती थीं। अतः हम देखते हैं कि कुमारामात्य एक पदाधिकारी के रूप में कार्यारम्भ करता था, लेकिन जागीरदार के रूप में उसे समाप्त करता था। बाद में, बहुत अवस्थाओं में कुमारामात्य एक जागीरदार की उपाधि हुई, जो सभी प्रकार के शाही-पदाधिकारियों और सेवक-जागीरदारों के लिए लागू हुई।

2. **उपरिक :**—स्कन्दगुप्त के तिथिहीन बिहार शिला-स्तम्भलेख में उपरिक कुमारामात्य के पहले आता है।[5] लेकिन हर्ष के बांसखेरा धातुपत्र में उपरिक कुमारामात्य के बाद तथा विषयपति के पहले आता है।[6] इसका अर्थ यह हो सकता है कि कुमारामात्य उपरिक से श्रेष्ठ था।

यह सुझाव दिया जाता है कि उपरिक शब्द कर (टैक्स) उपरिक से व्युत्पन्न हुआ, और इसलिए यह बहुत सम्भव है कि उपरिक उक्त कर (टैक्स) के मूल्यांकन और संग्रह के लिए उत्तरदायी पदाधिकारी होता था। एक दृष्टिकोण के अनुसार उपरिक शब्द 'उपरि' अर्थात् 'ऊपर' से बना है। इसका शाब्दिक अर्थ "किसी का ऊपर आसीन होना" (स्थापन्न) है। इस अर्थ में 'उपरिक' एक पदाधिकारी का अर्थ दे सकता है, जो अपने अधीन दूसरे पदाधिकारियों के कार्य का निरीक्षण करता था। उसका कार्य वाकाटक के रिकार्डों के सर्वाध्यक्ष के कार्य के समान था। वह निश्चय ही एक बहुत उच्च पदाधिकारी था, क्योंकि वह अवसर सम्राट् के निकट ही स्थापन्न होता है।

दामोदरपुर-धातुलेख उपरिक के अस्तित्व पर कुछ प्रकाश डालते हैं। कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में सम्बन्धित प्रथम दो धातुलेख बताते हैं कि उपरिक

1. *Proceedings of A.I.O.C.*, 1930, p. 216.
2. **E.I.**, I, No. 11, p. 66.
3. **Ibid.**, IV, No. 29, p. 208.
4. **Ibid.**, XXXI, No. 39.
5. **C:** II, III, No. 12, p: 50.
6. **E.I.**, IV, No. 29, p. 208.

चिरातदत्त पुण्ड्रवर्धन मुक्ति के प्रभाव में था, और उसने कोटिवर्ष-विषय के प्रशासन की देखभाल के लिए कुमारामात्य वेत्रवर्मन को नियुक्त किया था।[1] बुद्धगुप्त के समय से नम्बर 3 और 4 दामोदरपुर धातुलेख में उपरिक महाराज ब्रह्मदत्त और जयदत्त पुण्ड्रवर्धन की भुक्ति में सम्राट् के प्रशासन अधिकर्ताओं के रूप में वर्णित हैं।[2] भानुगुप्त के समय का नम्बर 5 दामोदरपुर शिलालेख उपरिक महाराजा राजपुत्र-देवभट्टारक को एक ही मुक्ति के राज्यपाल के रूप में सूचित करता है।[3] 'तदपादग्रहीता' का अर्थ यह हो सकता है कि मुक्ति का उपरिक सम्राट् के प्रति सीधे उत्तरदायी होता था और शायद वह उसी के द्वारा नियुक्त होता था। इन शिलालेखों से प्रगट दूसरा महत्वपूर्ण दृष्टिकोण यह है कि कुमारामात्य वेत्रवर्मन, आयुक्तक सन्दक और विषयपति स्वयंभूदेव उपरिक के अधीन स्थापन्न थे जो उपरिक मुक्ति के प्रभार में था। दामोदारपुर-शिलालेख से महाराजा के रूप में ख्यात 'उपरिक' के अस्तित्व एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि का संकेत मिलता है। पदाधिकारियों से सम्बन्धित जागीरदारी उपाधियों की दो तरह से व्याख्या की जा सकती है— या तो जागीरदार विभिन्न पदों पर नियुक्त किये जाते थे या पदाधिकारी मान्य जागीरदारी श्रेणियों में स्थापन्न थे। अनेक कारणों से प्रथम व्याख्या तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है। एक तो पदनाम पुराने थे, जबकि जागीरदार दरजे (श्रेणी) बाद में निर्मित हुए। दूसरे, हमलोग उन पदाधिकारियों के बारे में जानते हैं जो पहले जागीरदारी की उपाधियाँ धारण नहीं करते थे लेकिन बाद में उनको उन्होंने प्राप्त किया। अतः दूसरा विकल्प कि पदाधिकारी जागीरदार बन गये, अधिक तर्कपूर्ण ध्वनित होता है।

दामोदरपुर के पंचम-ताम्रलेख से सूचना मिलती है कि भट्टारक या तो सम्राट् का पुत्र होता था अथवा शाही खानदान से सम्बन्धित होता था। दामोदरपुर शिलालेख में चार उपरिकों के नाम वर्णित हैं, जो क्रमशः कुमारागुप्त प्रथम, बुद्धगुप्त और भानुगुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का प्रशासन करते थे। प्रथम तीन हैं (ए० डी० 444), ब्रह्मदत्त (ए० डी० 483) तथा जयदत्त और चतुर्थ राजपुत्र-देवभट्टारक है। दत्त उपनाम बतलाता है कि उपरिक का पद उस समय वंशानुगत था और यह इतना महत्वपूर्ण था कि राजवंश का राजकुमार ही उसपर नियुक्त होता था।

---

1. **E.I., XV**, No. 7, p. 114.
3. **Ibid.**, XV, No. 7, P. 114.
3. **Ibid.**, XV, No, 7, p. 114.

बसाढ़—मुद्राओं में से एक में तिरभुक्ति 'उपरिकधिकरणस्यों' का प्रयोग टी० ब्लाक के द्वारा तिरभुक्ति के उपरिक के मुख्य की मुहर को बताने के लिए किया गया।[1] इस व्याख्या का सुधार जे० मोगेल केरे द्वारा किया गया, जिसने इसे तिर-भुक्ति[2] उपरिक के न्यायालय की मुहर के रूप में लिया। उनकी व्याख्या ठीक प्रतीत होती है। वैन्यगुप्त (ए० डी० 506) का गुणाईधर अनुमान पुराप्रलोपरिका महाराज श्री महासामन्त विजयसेन के बारे में कहता है और उपरिक शब्द की व्याख्या डी० सी० भट्टाचार्य[3] के द्वारा नगर गवर्नर के अध्यक्ष के अर्थ में की गयी है। परन्तु अनुदान यह प्रदर्शित करता है कि उपरिक शहर के मुखिया के कार्यों को भी सम्पन्न करता था, क्योंकि गुप्तकाल के कार्यों का जो सिलसिला था उसमें एक ही व्यक्ति में अनेक पदाधिकारी का विनियोग एक आम बात थी। वैन्यगुप्त का गुणाईधर ताम्रपत्र लेख भी पंचधिकारणोंपरिक और पुरापलोपरिक पदनाम वर्णन करता है, जो क्रमशः पांच अधिकरणों अथवा पांच अधिकरण और शहर प्रशासन के मुख्य के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और दोनों पद तिपेरा[4] अनुदान में वर्णित एक ही व्यक्ति के द्वारा धारण भी किये गये हैं।

यह अवश्य मान लिया जाना चाहिए कि उपरिक प्रान्तीयराज्यपाल के पद को धारण करता था। पुनः अलमोड़ा जिला [उत्तर प्रदेश] के दो अनुदानों में दण्डोपरिका[5] नामक पदाधिकारी का नामोल्लेख हुआ है। इस शब्द का अर्थ पुलिस का प्रमुख समझा गया है। छठी शताब्दी ए० डी० के कुछ बंगाल अनुदान से ब्रहदपरिका की सूचना मिलती है। यह शब्द साधारणतः अन्तरंग के पहले आता है, जो बसाक के द्वारा मुख्य गुप्त (प्रिवि) सभासद के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।[6]

फरीदपुर के चार धातु-लेखों में तीन उपरिक की उपाधि का व्यवहार करते हैं, जिससे इस प्रकार की कल्पना की जा सकती है कि पदाधिकारी, जिनके लिए ये पदनाम स्थापित किये जाते थे, उस पद को धारण करते थे, जो गोपचन्द्र, धर्मादित्य और समाचारदेव के साम्राज्यों में महत्त्वपूर्ण था; जैसे, गुप्त साम्राज्य में पुण्ड्रवर्धन मुक्ति के उपरिक महाराजा का पद महत्त्वपूर्ण था।[7] इससे यह निष्कर्ष

1. **A. S. I. R.**, 1903–4, No. 20, p. 109.
2. Vogel, *Antiquity of Chamba State*, p. 123.
3. **I. H. O.**, VI, No. 1, p. 57.
4. ***Select Inscriptions***, No. 37, p. 333.
5. **E. I.**, XIII, No. 7, pp. 115–19.
6. **Ibid.**, XII, No. 8, p. 43.
7. ***Select Inscriptions***, Nos. 44, 45; p. 354.

निकाल सकते हैं कि उक्त काल में दो प्रकार के प्रशासन व्यवस्थित या प्रचलित थे—अपने क्षेत्र में जागीरदार के द्वारा स्थानीय प्रशासान और राजा के द्वारा नियुक्त किये गये पदाधिकारियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित मुक्ति में अथवा राजधानी में स्थानीय सम्प्रभुत्व शासन। जागीरदार पदाधिकारियों और सरकारी पदाधिकारियों की स्थिति एवं महत्त्व समान है। यह विचित्र बात है कि शाही प्रशासन के पदाधिकारियों से भिन्न [असदृश्य] जागीरदार पदाधिकारी शब्दाडम्बर युक्त उपाधि प्राप्त करते थे। इस प्रकार यद्यपि गुप्तों का विदेश सचिव सान्धि-विग्रहिक कहलाता था, सर्वनाथ का सचिव, जो गुप्तों के सचिव का सेवक-जागीरदार होता था, महासान्धिविग्रहित कहलाता था।

गोपचन्द्र के समय के फरीदपुर ताम्रपत्र लेख में वर्णित पाते हैं कि नव्यावकाशिक का उपरिक नागदेव महाप्रतिहार और कुमारामात्य दोनों था।[1] कुछ उच्च-कल्प अभिलेखों में उपरिक दूतका[2] के रूप में कार्य सम्पादित करते प्रतीत होते हैं। ऐसे दो पदों के बीच सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है, लेकिन कुमारगुप्त-प्रथम के राज्यकाल से संबंधित कुछ दामोदरपुर अनुदानों में कुमारामात्य उपरिक महाराजा के द्वारा नियुक्त जिला-पदाधिकारी के रूप में प्रकट होता है, जो राज्य-पाल के रूप में कार्य करता था तथा अधिकार के क्रम में सम्राट के बाद ही उसका स्थान रिकार्ड में अंकित है।[3] इस प्रकार गुप्तकाल में भारत के उत्तर-पूर्व भाग में उपरिक का पद व्यापक रूप में प्रचलित था।

3. **विषयपति:**—कुमारगुप्त प्रथम के दामोदरपुर-ताम्रपत्र में वर्णन आया है कि कुमारामात्य वेत्रवर्मन उपरिक चिरातदत्त[4] के द्वारा विषयपति नियुक्त किया जाता था। बुद्धगुप्त के समय में उपरिक्त महाराज जयदत्त ने, जो पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के ऊपर शासन करता था कोटिवर्ष विषय के प्रभार में एक सन्दक को पदाधिकारी के रूप में नियुक्त किया।[5] धर्मादित्य के फरीदपुर ताम्रपत्र-लेख में लिखा गया है कि जयदेव धर्मादित्य के द्वारा नहीं, बल्कि स्थाणुदत्त के द्वारा वराकमण्डल के राज्यपाल के रूप में स्पष्टत: नव्यावकाशित का वाईसराय नियुक्त किया गया था।[6]

---

1. *Select Inscriptions*, No. 45, pp 357—58.
2. C. II., III, Nos. 26, 27, 30,; pp. 120, 124 and 134.
3. E. I. XV, No. 7, p. 114—Probably in the Cha'ukya Kingdom in the later period Uparori, as a tadabhava form of Uparika which denotes a very high officer under the Guptas and Harsa.

   (A. K. Majumdar, *Chalukya of Gujrat*, p. 231).
4. **E. I.**, XV, No. 7; P. 114.
5. **Ibid.**, XV, No.7 (4), p. 114.
6. ***Select Inscriptions*** **No. 43; p. 351.**

कुमारगुप्त प्रथम के समय के दामोदरपुर धातु-लेख में वर्णित है कि कुमारामात्य वेत्रवर्मन, जो कोटिवर्ष का विषयपति था, नगर-श्रेष्ठी, धृतिपाल, सार्थवाह एवं बन्धुमित्र की और प्रथमकुलिक एवं प्रथम कायस्थ धृतिमित्र की संगति में स्थान-विशेष का शासन करता था।[1] बुद्धगुप्त के समय के दामोदरपुर के अन्य धातुलेख में आयुक्तक-सन्दक को नगरश्रेष्ठी रिमुपाल, सार्थवाह वसुमित्र, प्रथम कुलिक-वरदत्त, प्रथम कायस्थ विप्रपाल की संगति में कोटिवर्ष विषय का प्रशासन करने के रूप में वर्णन हुआ है।[2] उसी स्थान का दूसरा ताम्रलेख सूचित करता है कि भानुगुप्त (ए० डी० 544) के समय में विषयपति स्वयम्भूदेव नगरश्रेष्ठी स्थाणुदत्त, सार्थवाह मतिदत्त, प्रथमकुलिक स्कन्दपाल और प्रथम कायस्थ की मदद से जिला का प्रशासन करता था, जिसका नाम अभिलेखों में नहीं मिलता है।[3]

वेग्राम ताम्रपत्र लेख सूचित करता है कि विषयपति, जो कुमारामात्य की उपाधि धारण करता था, गुप्त सम्राटों द्वारा उपरिक महाराज की सलाह और स्वीकृति पर विषयाधिकरण के प्रभार में स्थापित किया जाता था। कुलवर्धी, विषयपति सम्राट् के पैर पर प्रत्यक्ष रूप से ध्यानस्थ वर्णित है। लेकिन यह इस तथ्य को सम्भवतः सूचित करता है कि भुक्ति राज्यपाल के द्वारा विषय के मुख्य प्रशासक की नियुक्ति राजा की स्वीकृति-सापेक्ष थी। यहाँ कुमारामात्य कुलवर्धी का अस्तित्व अवश्य ही उपरिक-चिरादत्त के द्वारा नियुक्त कोटिवर्ष के कुमारामात्य वेत्रवर्मन के सदृश होगा, जो स्वयं परमदैवत, परमभट्टारक महाराजाधिराज कुमारगुप्त प्रथम की राजकीय अनुकम्पा से सुसज्जित था। कुलवर्धी और वेतवर्मन, अवश्य ही उत्तर-बंगाल के दो अलग-अलग विषयों में एक ही राजा के अधीनस्थ समकालीन पदाधिकारी हुए होंगे।[4] यह विचित्र बात है कि वेग्राम ताम्र-लेख में हमलोग दामोदरपुर के न० 1,2, 4 और 5 अनुदानों में सलाहकारों के बार्ड प्रसंग नहीं पाते हैं, जो विषयाधिकरण के प्रशासनिक कार्य में कोटिवर्ष के विषयपति को मदद दिया करता था।[5] इसका अर्थ है कि कोटिवर्ष शायद एक महत्वपूर्ण विषय था, जो पंचनागरी की अपेक्षा विषयाधिकरण के सुन्दरतर एवं विशद् प्रशासनिक प्रबन्ध की अपेक्षा रखता था और जो उस समय का नव-निर्मित जिला हो सकता है। ध्यान

1. **E.I.**, XV, No. 7 (112), p. 114.
2. **Ibid.**, XV, No. 7 (4), p. 114.
3. **Ibid.**, No. 7 (5), p. 114.
4. **EI.**, I No. 13, p. 80.
5. **Ibid.**, XXI, No. 13, p. 80.

देने योग्य है कि वेग्रामधातुपत्रलेख दामोदरपुर के दो अनुदानों से ज्ञात मुक्ति राज्यपाल का नाम नहीं देता है। वैग्राम धातु लेखों और जयनाग के वप्याघोषवात अनुदान के बीच सादृश्य का एक बिन्दु है। दोनों में विषय का प्रशासन करनेवाला पदाधिकारी राजा को प्रत्यक्ष रूप से सम्मान देता है।

छठी शतोब्दी (ए० डी०) के द्वितीय भाग में जयनाग के वप्याघोषवत अनुदान में यह स्पष्ट नहीं है कि औदुम्बरिक-विषय के भोग करनेवाले नारायणभद्र के कर्त्तव्य, कार्य और अस्तित्व वही थे, जो साधारण अवस्थाओं में विषयपति को प्रदत्त थे। नारायणभद्र प्रत्यक्ष रूप से राजा के प्रति उत्तरदायी है। विषयपति अथवा कुमारामात्य की उपाधि, जो जिला—पदाधिकारी के लिए दूसरे अभिलेखों में लागू थी, वह नारायणभद्र को प्रदान नहीं की जाती है, इसके बदले वह सामन्त कहा जाता है। इन विचारों के आधार पर हमलोग यह सोचने के लिए उद्यत हैं कि औदुम्बरिक विषय एक पदाधिकारी के द्वारा प्रशासित जिला नहीं था बल्कि जागीरदार के द्वारा प्रशासित राज्य का एक अंश था। सम्पूर्ण विषय विषयपतियों के द्वारा अपरिवर्तनशील रूप से शासित नहीं होते थे, कभी-कभी वे सामन्तों के द्वारा भी प्रशासित होते थे।[1]

भू-अनुदान में बहुधा विषयपति का वर्णन जमीन की बिक्री में हुआ है। धातुलेख नम्बर 1 और 2 के अनुसार दो स्वतन्त्र व्यक्ति विषयपति के पास पहुँचते थे, जो भुक्ति के राज्यपाल अथवा सम्राट् तथा निम्न दर्जे के पदाधिकारियों के बीच एक कड़ी का काम करता था। भू-व्यापार में विषयपति पुस्तपाल से सहायता प्राप्त करता था। दामोदरपुर न० 5 के अनुसार कोटिवर्ष का विषयपति पुस्तपाल के द्वारा भू-व्यापार की अथार्थता के सम्बन्ध में दी गयी राय से भिन्न मत रखता है। इस अवस्था में राजा के द्वारा समस्या तय की जाती थी। यह बात प्रान्तीय राज्यपाल के पास नहीं जाती थी, जिसका अधीनस्थ पदाधिकारी विषयपति था, बल्कि अन्तिम निर्णय के लिए प्रत्यक्ष रूप से राजा के पास जाती थी। निस्सदेह इससे यह जाहिर होता है कि रिकार्ड रखनेवाले जिला के उच्चतम पदाधिकारी के अधिकारों के ऊपर कुछ नियन्त्रण रखते थे।

विषयपति का हर्ष के बांसखेरा धातुलेख[2] एवं मधुबन ताम्रपत्र[3] और शंकरगण[4] के अमोना धातु लेख में भी वर्णन आया है। इन अनुदानों में यह पदाधिकारी चाट

1. **IC**, VI, p. 162.
2. **E.I.** IV, No. 29, p. 208.
3. **Ibid.**, I, No. II, p. 66.
4. **Ibid.**, IX, No. 45, p. 297.

और भट के पूर्व एवं कुमारामात्य और उपरिक के बाद स्थापित है। किन्तु जय-भट्ट[1] के कवि-अनुदान और वल्लभी[2] के धारसेन प्रथम के अनुदान विषयपति को ध्रुवाधिकरणिक के शीघ्र बाद तथा राजस्थानीय के पूर्व स्थापित करते हैं। अतः मध्य और पश्चिमी भारत में विषयपति किस प्रशासनिक स्तर से सम्बन्धित था इसका निश्चय करना कठिन है। विषयपति से उच्चतर अस्तित्व ध्रुवाधिकरणिक प्राप्त नहीं कर सकता था। इस काल में कामरूप में जिला-पदाधिकारी विषयमात्य कहलाता था।[3] कामरूप शासनावली किसी आर्यगुना को सूचित करता है, जो भूतिवर्मन[4] के राज्यकाल में विषयमात्य था।

कुछ अर्थों में उत्तर भारत का विषयपति डेक्कन के विषयपति से भिन्न है। राष्ट्रकूट-प्रशासन के अधीन डेक्कन में विषयपति और भोगपति की नियुक्ति प्रत्यक्ष रूप से सम्राट् के द्वारा की जाती थी। राष्ट्रपति-प्रशासन-सम्बन्धी कार्य में विषय-पति राष्ट्रमहत्तर के कौंसिल द्वारा सहायता प्राप्त किये हुए प्रतीत होता है। कुछ विषयपति प्रान्तीय राज्यपालों के सदृश जागीरदारी अस्तित्व का माग करते थे।[5] डेक्कन में विषयपति प्रान्तीय राज्यपाल के सदृश विशाल राजस्व अधिकार कार्यान्वित करता था।[6]

4. दौस्साधसाधनिकः—दौसाधसाधनिक शब्द सर्वप्रथम हर्ष बांसखेरा[7] धातुलेख में और मधुवन[8] ताम्रपत्र लेख में वर्णित है। बांसखेरा लेख में पदाधिका-रियों की सूची के क्रम से पता चलता है कि वह हर्ष के राज्यकाल में एक महत्त्व-पूर्ण पदाधिकारी था। वह महासामन्त और महाराज के बाद तथा राजस्थानीय, कुमारामात्य उपरिक और विषयपति के पूर्व अवस्थित है। इस पदाधिकारी का प्रशासनिक कार्य का निश्चय करना कठिन है। गुप्त और पूर्व गुप्तकाल में यह पदनाम अज्ञात था; यह पाल और सेन के खुदे हुए लेखों में बाद में आता है।

---

1. I.A., V, p. 114.
2. Ibid., VI, p. 12.
3. E.I., XXVII, No. 5, p. 23.
4. *Kamarupa Sasanavali*, p. 51.

In the Gahadavala dynasty Visayadhikarana purusa was the administrative officer incharge of visaya or province:

(R. Niyogi. ***History of the Gahadavala Dynasty***), p. 157.

5. I. A., V, p. 17.
6. E. I., XVI, No. 21, p. 280.
7. E. I., IV, No. 29, p. 208.
8. Ibid., I, No. 11, p. 66.

आर० एस० त्रिपाठी का पर्यवेक्षण है कि दौस्साधनिक शाब्दिक अर्थ में वह व्यक्ति होता था, जो कठिन कार्य का भार लेता था ।[1] आर० जी० बसाक इस शब्द को गांवों के दरबान अथवा अधीक्षक के रूप में लेता है ।[2] लेकिन डी० सी० सरकार के अनुसार साधनिक न्यायाधीश के न्यायालय में एक अभिकर्ता हो सकता है ।[3] पुनः वे वर्णन करते हैं कि दौस्साधसाधनिक वह व्यक्ति होता था, जो खतरनाक डकैतों को, जिन्हें गिरफ्तार करना कठिन था, पकड़ता था ।[4] यह स्पष्ट नहीं है कि यह शब्द कभी-कभी दो भिन्न पदाधिकारियों, दौस्साध और साधनिक, के कार्यों को सूचित करता है ।

मोनियर—विलियम्स के अनुसार यह शब्द कठिन कार्य पूरा करनेवाले दण्डाधिकारी का अर्थ रखता है । शब्दकोश इसकी अभिव्यक्ति दरबान के रूप में करते हैं । हमारी राय में दौस्साधसाधनिक एक पहरेदार होता था, जो रात में पहरा देता था और शहर तथा गांवों में डकैतों के दलों का पता लगाता था और उनपर शंका करता था । उसका अर्थ एक उच्च पुलिस अधिकारी भी हो सकता है । पुनः डी० सी० सरकार का सुझाव है कि दौस्साधसाधनिक साहसिक यात्रा की सेना का नायक प्रतीत होता है, जिसकी जरूरत संकटकालीक अवसरों पर होती थी । साधनिक शब्द इस पदनाम का अंश निर्मित करते हुए प्राकृत सहानिया के सदृश्य है और इसका अर्थ सेनानायक है । महासाधनिक पदनाम की तुलना दक्षिण भारत के रिकार्डों के पट्टसाधनाधिपति से की जा सकती है, जो कभी-कभी सेनापति भी कहलाता था ।[5] साधनिक प्रत्यक्ष रूप से सेनापति के अधीन कार्य करता था । दौस्साधनिक अश्वारोही नायक (बलाधिप) होता था या सेना से दूर चौकी अहर में स्थित सैनिकों का प्रभारी पदाधिकारी होता था ।[6]

5. **भोगिक** :—'भोगिक' मध्य प्रदेश में उच्चकल्प शासकों के खुदे लेखों में अक्सर मिलता है ।[7] वैन्यगुप्त (ए० डी० 507) के गुणाईधर खुदाई लेख के अनुसार दूतक विजयसेन कुमारामात्य रेवजास्वामिन और दूसरे-दूसरे पदाधिकारियों को कार्य सौंपता था, जो भौगिक कहलाते थे ।[8] विजयसेन के मल्लसखल-

1. R. S. Tripathi, ***History of Kannauj***, p. 138.
2. **E. I.**, XII, No.s. 8, 18; pp. 43; 141.
3. ***Select Inscriptions***, No. 43, P. 352.
4. D. C. Sircar, ***Indian Epigraphical Glossry***, p. 85.
5. D, C, Sircar, ***Indian Epigraphy***, p. 365.
6. Dasharath Sharma, ***Early chauhan Dynasty***, p. 197.
7. C, II, III, Nos. 21, 22, 23, pp. 96, 102, 197.
8. ***Select Inscriptions***, No. 37, p. 334.

धातुलेख से भोगमतिक का संकेत प्राप्त होता है, जो भोगिक के अनुरूप हो सकता है। वह ऐसा पदाधिकारी होता था, जो अस्तबलों के प्रबन्ध से सम्बन्धित होता था। यह जागीरदार को भी सूचित कर सकता है।[1] फलीट का सुझाव है कि भौगिक एक टेक्निकल पदाधिकारी की उपाधी है, जो भोग और भुक्ति से सम्बन्धित है। इस प्रकार उनकी राय में भोगपति प्रान्तीय राज्यपाल था।[2] डी० सी० सरकार के अनुसार भोगपति इनामी भूमि अथवा जागीरों का अथवा राज्य की इकाई भोग का प्रभारी पदाधिकारी है। अन्तिम दृष्टिकोण अधिक सम्भव है।[3] पांचवीं शताब्दी ए० डी० के करीब शुरू के जयभट्ट के कविअनुदान में भौगिक का अर्थ जिला का मुख्य अथवा अनाज के रूप में ली गयी जमीन की ऊपज में राज्य का हिस्सा संग्रह करनेवाला कलक्टर हो सकता है।[4]

भोगिक का कार्यभार वंशानुगत था चूँकि अनेक अवस्थाओं में भोगिक की की कम-से-कम तीन पीढ़ियों का वर्णन है। जयनाथ का कारितलाय ताम्रपत्र लेख भोगिकों की तीन पीढ़ियों की सूचना देता है—दादा, पिता और पुत्र।[5] इसकी पुष्टि जयनाथ और सर्वनाथ के खोह ताम्रपत्र-लेखों द्वारा की गयी है।[6] इन सभी बातों ने स्वभावतः भोगिक को, अवश्य ही, एक शक्तिशाली स्वामी बना दिया होगा जो केन्द्रीय अधिकारी के नियंत्रण से तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र रहता था। कभी-कभी भौगिक अमात्य का कार्यभार भी ग्रहण करता था।[7] शंकरगण के ताम्रपत्र लेख भोगपति को जिला के मुख्य के रूप में वर्णन करते हैं।[8] ऐसा प्रतीत होता है कि भोगिक एक खिदमतगार (सेवक) जागीरदार था जो राजकीय (शाही) पदाधिकारी के रूप में सेवा करता था।

1. **Ibid.**, No. 46, p. 360.
2. C. II, III, No. 22, p. 100.
3. D. C. Sircar, *Indian Epigrahical Glossary*, p. 55.
4. **I. A.**, V, p. 114.
5. C. II, III, No. 26, pp. 118-19.
6. **Ibid.**, III, No. 28, p. 128.
7. **C. II**, III, No. 23. p. 107.
8. **E. I.**, IX, No. 45, p. 296.

R. K. Chaudhary—*Select Inscriptions of Bihar*—The Deobarnark inscriptions of Jivitagupta II in the Sixth Century AD and the Grant of Pallava Sivaskandavarman indicate bhogika as a village headman or free holder. (**C. II, III, No. 46. p. 213, E. I., I. p. 2**).

इस काल में कुछ भोगपति देहाती समुदाय को सताते थे। 'हर्षचरित' के अनुसार जब राजा हर्ष गाँव में घूमते थे, गाँववाले भोगपतियों के विरुद्ध शिकायत करते थे।[1]

हर्ष के समय में दूसरा जागीरदार महाभोगी था, जो उत्तर भारत के समकालीन खुदाई लेखों में वर्णित नहीं हैं, लेकिन उड़ीसा के कुछ एपिग्राफ (शिलालेख या मुद्रालेख) में संकेतित है। कादम्बरी में राजा तारापीड के राजभवन में बाण के अन्तःपुर का वर्णन है, जो द्वार पर सैकड़ो महाभोगियों की उपस्थिति सूचित करता है और जो अग्रवाल के अनुसार, राज्य के दानों पर जीवित रहनेवाले व्यक्ति होते थे।[2] सम्भवतः दानों ने देहाती क्षेत्रों में जागीरदारों और प्रियपात्रों के लिए स्वीकृत भू-राजस्व का रूप धारण किया और वे कभी-कभी अपने प्रभु को श्रद्धांजलि या श्रद्धाभक्ति अर्पित करने के शाही राजमहल में एकत्र होते थे।

वर्धमान भुक्ति में अवस्थित लगभग एक दर्जन पदाधिकारियों में से एक के रूप में भोगपालक का वर्णन है। उस समय महाराज विजयसेन वहाँ महाराधिराज श्री गोपालचन्द्र (लगभग ए० डी० 507) के सेवक-जागीरदार के रूप में शासन करते थे।[3] भोगिक और भोगपालक उपाधियों से संकेत प्राप्त होता है कि ये पदाधिकारी जितना अपने अधीनस्थ क्षेत्रों के राजस्व का भोग करते थे, उतना वे उन पदों का, जो उन्हें सौंपा जाता था, प्रजा के उपर राजकीय अधिकार सम्पन्न करने में तथा उनके कल्याण के लिए उपयोग नहीं करते थे। प्रारम्भिक कलाकुरी शिलालेख एक नवीन भौगिकापालक अधिकारी की सूचना देते हैं, जो भोगिक के ऊपर अधीक्षक के रूप में कार्य करता रहा होगा।[4] ब्रांच क्षेत्र (ए० डी० 641) के दद्दा द्वितीय के दो अनुदानों में दूतक-कारका भोगपालक की उपाधि धारण करता है, जिसका अर्थ भौगिक का संरक्षक है।[5] छठी शताब्दी (ए० डी०) के चतुर्थ भाग में भोगपालक महापालपति के रूप में प्रतीत होता है।[6] वल्लभी का राजा (ए० डी० 565) गुहासेन के वाला धातुलेख दण्डभोगिक को दण्डपाशिक (फौजदारी-न्याय-कर्त्ता) के रूप में सूचित करते हैं।[7] इसका अर्थ पुलिस का अधिकारी भी हो सकता है।

---

1. **H. C.**, p. 212.
2. V. S. Agrawala, *Kadambari*. p. 103.
3. *Select Inscrpns.*, p. 360.
4. **C. II., IV, No. 13, l. 4.**
5. **E. I.** V. No. 5. p. 40.
6. **C. II, IV, No. 13, l. 4.**
7. **E. I. XIII**, 30, p. 339.

दद्दा चतुर्थ[1] के दो अनुदानों में 'भौगिक' का स्थान राजसामन्त और विषयपति के मध्य आता है। इन कागजातों में इसका अर्थ, डाऊसन कृत अनुवाद के अनुसार एक प्रान्त का राज्यपाल है। सभी अवस्थाओं में यह एक उच्च दर्जे के व्यक्ति को सूचित करता है। वल्लभी के राजा गुहासेन के अनुदान में, जहाँ यह पुलिस पदाधिकारी (दण्डभोगिक) और चोर पकड़ने वालों से सम्बन्धित है, यह अवश्य ही एक निम्न दर्जे के पदाधिकारी का सूचक है।[2] चूँकि भोग का अर्थ राजस्व भी है, बूहलर का अनुमान है कि भोगिक ग्रामीण मुनीम एवं राजस्व-प्राप्तिकर्त्ता को सूचित करता है, जो बाद में कुलकर्णी कहलाया। सेन्ट पीट्सवर्ग शब्द कोश में भोगिक का अर्थ अश्वपालक किया गया है, लेकिन भोगिन को प्रान्त का राज्यपाल तथा ग्राम का मुखिया बताया गया है। भागिन और भोगिन स्पष्टतः भागिक और भोगिक के सदृश है और सम्भवतः वे राजस्व के संग्रहकर्त्ता हैं।

छठी शताब्दी (ए० डी०) के उड़ीसा में प्राप्त अनन्तवर्मन के धातुलेख में उपहार प्राप्तिकर्त्ता मैत्रीसर्मन को अचन्तपुर भोगिक बताया गया है। आर० सी० मजूमदार भोग का अर्थ राजकीय डिवीजन के रूप में लेते हुए इसका अनुवाद अचन्तपुर के निवासी के रूप में करते हैं। परिव्राजक और उच्चकल्प राजाओं के 'रेकार्डों' में महासान्धिविग्रहिक भी भोगिका के कार्यों को सम्पन्न करता था और वैसा ही उसके बाप और दादा भी करते थे। संस्कृत शब्दकोषों में भोगिका की व्याख्या अश्वपालक एवं कहार के रूप में की गयी है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि ये कार्य बाद में उसे सौंपे गये होंगे। उपहार प्राप्तिकर्त्ता मात्रसर्मन के सम्बन्ध में, जो एक ब्राह्मण था एवं विद्याध्ययन करता था, एक नियमित पदाधिकारी या एक अश्वपालक या कहार की तरह के निम्न धन्धे करनेवाले के रूप में नहीं सोचा जा सकता। हस्तिवर्मन (ए० डी० 575) का धातु लेख प्रदर्शित करता है कि एक व्यक्ति, जो बुधमांचीन कहलाता था, भोगिका का पद धारण करता था।[3] लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि आदित्य मानचीन पूर्व धातु लेखों में आदित्य भोगिका के रूप में सूचित किया गया है।[4] उपाधि के इस परिवर्तन के कारण हुल्ज की अभ्युक्ति है कि भोगिका के सदृश मानचीन शायद तेलगु भी कहार के समानार्थक है। इसके अतिरिक्त कहार शब्द या बुद्धमानचीन के लिए मुश्किल से व्यवहृत हो सकता है। अतः वर्तमान उदाहरण में इस शब्द का अर्थ भोग नामक राजकीय इकाई का मुख्य हो सकता है।

1. E. I., V, No. 5, p. 40.
2. I. A., IV, p. 175.
3. E. I., XXIII, No. 10, p. 65.
4. Ibid., XIV, No. 27, p. 362.

6. **प्रतिहार** —कालिदास की कृति में वर्णित राजमहल का प्रधान कर्मचार कंचुकि यदि पदाधिकारी होता है, तो इसे गुप्तों के रिकार्डों के महाप्रतिहार के साथ रखा जा सकता है। तब इसका यह अनुमान हो सकता है कि वह राजभवन की भीतरी भागों की देखभाल करता था और अपने कार्यालय के सदस्य की हैसियत से भी रहता था। वह राजा को उन व्यक्तियों के आगमन की सूचना देता था, जो राजा से बातचीत की अनुमति चाहते थे।[1] डी० सी० सरकार का सुझाव है कि क्योंकि 'प्रतिहार' शब्द का अर्थ दरबान है, इसलिए महाप्रतिहार राजमहल के फाटकों, राजधानी और सम्भवतः राजा के अंगरक्षक की भी सुरक्षा के प्रभारी सैन्य दलों का अधीक्षक हो सकता है। वह शाही शयनागार के द्वार पर राजा की सेवा करनेवाला पदाधिकारी भी हो सकता है।[2] गुप्तकाल के शृंगारहट्ट[3] में भद्रयुद्ध, जो स्कन्दगुप्त के मन्त्री का पुत्र था, बलाधिकर्त्ता के रूप में सेवा करता था, परन्तु वह महाप्रतिहार भी कहलाता था। इन सभी बातों से गुप्तों के रिकार्डों में महाप्रतिहार की स्थिति एवं दर्जे को निश्चित करना कठिन हो जाता है। लेकिन यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह राज्य में एक श्रेष्ठ और जवाबदेह पदाधिकारी होता था। बाण की 'कादम्बरी' में भी महाप्रतिहार का वर्णन मिलता है। हर्ष के समय में इसे रनिवास में सुव्यवस्था कायम करनी पड़ती थी, प्रत्येक कदम पर आशंकाओं के विरुद्ध सावधानी रखनी पड़ती थी, स्टाफ के निदेशन द्वारा शहर में कानून और सुव्यवस्था को कायम रखना पड़ता था और उसके अन्दर अन्याय को रोकना पड़ता था।[4]

वहमी ताम्रपत्र लेख में देवारिका या दौवारिका का वर्णन आया है। दौवारिका या प्रतिहार, जो गांव के थाना का मुख्य होता था, गांव में शान्ति कायम रखने के लिए एवं गाँव के लोगों से राजस्व वसूल करने के काम में ग्रामकूट की सहायता करता था।[5] महाभवगुप्त द्वितीय के धातु लेख में वेत्रका का अर्थ है वह व्यक्ति, जो वेत को धारण करता है। वह दरवान या राजमहल के पहरेदार का मुख्य भी हो सकता है।[6] वैन्यगुप्त (ए० डी० 507) के गुणाईधर ताम्रपत्र लेख में महाप्रतिहार शाही भवन के दरवानों के अधीक्षक के रूप में मुख्य अधिकारी

1. **Sak**, Act, V, p 65.
2. D C. Sircar, *Indian Epigraphy*, p. 358.
3. *Srngarahata*, p. 213.
4. *Harsa Priyadarasika*, Act III, p. 49,
5. V.V. Mirashi, *Vaketaka Rajavamsa Ka Itihas Tatha Abhilekha*, p. 53.
6. **E.I.**, XXIII, No. 40, p. 253.

प्रतीत होता है।[1] महाप्रतिहार पदनाम से, जो नागदेव व्यवहृत करते थे, यह पता चलता है कि वह क्षेत्र जिसपर वह शासन करता था इस तरह स्थित था कि अपने मालिक की राज्य-सीमा की सुरक्षा में उसे सहयोग देना पड़ता था। वल्लभी राज्य (ए० डी० 526) में धारसेन द्वितीय के अधिकार-पत्र के अनुसार मम्मक अनुदान का सृष्टिकर्ता होता था या दूतक या प्रतिहार भी होता था।[2] बंगाल में जयनाग (छठी शताब्दी ए० डी० के दूसरे भाग में) के वप्पोघोषवत अनुदान में वर्णित है कि उसका सामन्त नारायणभद्र ने, जो औदुम्बरिक जिला का शासन करता था, महाप्रतिहार सूर्यसेन को भट्ट ब्राह्मण-वीरस्वामिन के पास वप्पाघोषवत गांव को अनुदान में देनेवाले अपने हुकम को, जो ताम्रपत्र अधिकार-पत्र के द्वारा किया गया था, पहुँचाने के लिए कहा था।[3]

बाद के समय में प्रतिहार (दरवान या राजमहल का मुख्य पहरेदार) जो ग्रामीणों के उत्पादन के हिस्से का अधिकारी होता था, प्रतिहार प्रस्थ कहलाता था।[4]

7. **दूतक** :—मनु[5] और याज्ञवल्क्य[6] दूत का अर्थ संदेशवाहक बताते हैं। बृहस्पति के एक गवांश में सर्वप्रथम दूतक शब्द आता है, जो यह कार्य करनेवाले को गवाहों के वर्ग में सम्मिलित करता है और उसे सम्मानित प्रशंसित एवं दोनों दलों के द्वारा नियुक्त व्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है।[7] कात्यायन भी दूतक का वर्णन गवाह के एक विशेष रूप में करते हैं।[8] विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार दूत का अर्थ संदेशवाहक अथवा राजप्रतिनिधि हो सकता है।[9]

पूर्वी भारत में वैन्यगुप्त (ए० डी० 506) का गुणाईधर लेख विजयसेन को शाही संदेशवाहक के रूप में सूचित करता है।[10] पुनः वही लेख सूचित करता है कि विजयसेन, जो अनुदान का दूतक था, महाप्रतिहारकर, महापीलुपति और पंचाधि-

1. *Select Inscrpns.*, No. 37, p. 333.
2. **E.I.**, XXXI, No. 39, p. 301.
3. **Ibid.**, XVIII, No. 7,pp. 60-62.
4. **I.A.**, XV, p. 103.
5. **Manu.**, VII, 63-65.
6. **Yaj**, I, 328.
7. **Brahspati**, V, 11.
8. **Katya**, 353.
9. **V. C. P.** II, 24. 13-24.
10. **I, A, O.** VI, p. 53.

कारणोपरिक के महत्त्वपूर्ण पदों को भी धारण करता था।[1] दूतक राजा की स्वीकृति और आदेश को स्थानीय पदाधिकारियों के पास ले जाता था, जिसका कर्त्तव्य अधिकार पत्र की रूप-रेखा तैयार करना और भू-अनुदानों के प्राप्तिकर्ताओं को समर्पित करना था।[2] धर्मपाल के खालिमपुर अभिलेख में महासामन्ताधिपति के द्वारा अनुदान प्रदान कराने के लिए राजकुमार त्रिभुवनपाल के द्वारा राजा से दूतक के रूप में अनुरोध किया गया था। देवपाल के नालन्दा धातुलेख में उसके कार्य को दूत्य कहा गया है।[3] हमलोग सोचते हैं कि पूर्वी भारत में दूतक का पद बाद के काल में महत्त्वपूर्ण हुआ, क्योंकि शाही वंश का राजकुमार इस पद को धारण करता था। किन्तु पश्चिमी भारत में यह छठी शताब्दी ए० डी० के पहले से ही महत्त्वपूर्ण था।

उड़ीसा में छठी शताब्दी ए० डी० में प्रभंजन वर्मन के निनगोन्डी अनुदान में ज्येष्ठ महादण्डनायक कहा जाता है, जो महाप्रतिहार के दूत के रूप में कार्य करता था।[4] 7वीं शताब्दी ए० डी० का माधव वर्मन द्वितीय के धातुलेख से ज्ञात होता है कि दूतक अथवा अनुदान का प्रदाता सचिव धर्मचन्द्र था।[5] जीवितगुप्त द्वितीय को देववरनार्क अभिलेख से यह संकेत प्राप्त होता है कि दूत संदेशवाहक था, लेकिन दूतक नामक विशिष्ट पदाधिकारी के रूप में वह कार्य नहीं करता था।[6] हर्ष के मधुवनताम्रलेख[7] और बाँसखेरा[8] लेख में स्कन्दगुप्त अनुदान का दूतक प्रतीत होता है। शंकसोभा का बेतुल[9] धातुलेख और महाराज जयनाथ[10] का धातुलेख एक उच्च पदाधिकारी का वर्णन करते हैं, जो स्थानीय पदाधिकारियों के पास भू-अनुदान के सम्बन्ध में राजा का आदेश पहुँचाता है।

पश्चिमी भारत में शिलादित्य द्वितीय का अनुदान-वर्णन करता है कि राजपुत्र ध्रुवसेन जो राज परिवार का सदस्य था, दूतक के रूप में कार्य करता था। दूतक का अर्थ कार्यकारिणी पदाधिकारी नहीं है, इसका अर्थ है संदेशवाहक, जिसे अनुदान

1. **Ibid**, VI, p. 52.
2. **C. II. III. No. 27, p. 100.**
3. **E. I. IV, p. 250.**
4. **E.I., XXX, No. 20, p. 117.**
5. **Ibid., XXX, No. 44, p. 273.**
6. **CI; II, III, No. 46, p. 216.**
7. **C.I., I, No. 11, p. 66.**
8. **Ibid., IV, No. 29, p. 208.**
9. **CI; II, III, pp. 288-89**
10. **Ibid., No. 26, p. 117.**

का कार्यान्वयन सौंपा रहता है।[1] पुनः शिलादित्य प्रथम के अनुदान से दूतक की सूचना मिलती है। जिला का कार्यपालक पदाधिकारी के रूप में शिलादित्य प्रथम का अनुज और उत्तराधिकारी खरग्रहा भी दूतक के रूप में कार्य करता था। खरग्रहा की इस उत्तरदायी स्थान में नियुक्ति राज्य में वास्तविक अधिकार को प्राप्त करने के लिए भी होती थी।[2] पुनः राजपुत्र खरग्रहा शिलादित्य[3] तृतीय के जेसूर धातुलेख के दूतक के रूप में कार्य करता था। धारसेन चतुर्थ के अनुदान में दो पदाधिकारियों दूतक-राजकुमार भूप, दीवान और मुख्य सचिव-स्कन्दभट्ट का वर्णन मिलता है। अतः पश्चिमी भारत में दूतक का पद बहुत महत्वपूर्ण था, क्योंकि यह पद शाही खानदान के राजकुमार द्वारा धारण किया जाता था। हमलोग इस तरह के उदाहरण पूर्वी और मध्य भारत में नहीं पाते हैं। हो सकता है कि पूर्वी और मध्य भारत में यह पद जिला का कार्यपालक पदाधिकारी नहीं था, बल्कि केवल अनुदान का निर्माता था, जो संदेशवाहक के रूप में भी कार्य करता था।

दूत प्रयशानिका के प्रभार में था, जो मित्र राज्यों को कूटनीतिक व्यापार पर राज्य प्रतिनिधि भेजता था। यह विभाग अवश्य ही युद्ध और शान्ति विभाग के सहयोग में काम करता होगा, जिसपर महासान्धिविग्रहिक का नियन्त्रण रहता था।[4] इस प्रकार राजा की ओर से बोलने वाले के रूप में दूतक का पद महान् विश्वास एवं उत्तरदायित्व का था और तदनुसार यह पद राजस्थानीय अथवा उपरिक के दर्जे के उच्च पदाधिकारी को दिया जाता था।[5]

8. द्रङ्गिक :—विजयसेन के मल्लसाखल अनुदान से ऑद्रंगिक की सूचना मिलती है। बी० सी० सेन का कहना है कि यह शब्द शहर के मुख्य पदाधिकारी का अर्थ रखता है।[6]

पश्चिमी भारत में गुहासेन के अभिलेखों में माण्डली द्रंग में स्थित तीन ग्रामों को निर्दिष्ट किया गया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस अवस्था में द्रंग का अर्थ राज्य सीमा की एक इकाई है।[7] शिम्हादित्य[8] का पालिटाना धातुलेख,

1. I.A., XI, p. 309.
2. I.A., XI, p. 329.
3. E.I. XXII, No. 19, p. 118.
4. B.C. Sen, **op. cit.**, p. 549.
5. E.I., XII, No. 13, p. 75.
6. B. C Sen, **op. cit.**, p. 498.
7. I.A., IV, p. 175.
8. E.I., XI, No. 2, 16.

शिलादित्य[1] का नवलखी धातुलेख, ध्रुवसेन[2] का भावनगर धातुलेख और गुहासेन[3] का 'वाला' धातुलेख द्रंगिक का वर्णन उन पदाधिकारियों की सूची में करते हैं, जो भू-दानों अथवा ग्रामदानों के लिए सूचित होने को हैं। डी० सी० सरकार द्रंग की व्याख्या शहर के रूप में करते हैं और द्रंगिक शहर के मुखिया के रूप।[4] उनके अनुसार इसका अर्थ पहरास्थल या राजस्व-संग्रह का स्थल भी हो सकता है।[5] द्रंगिक शब्द धारसेन द्वितीय के वल्लभी ताम्रपत्र लेखों में भी मिलता है।[6] यह प्रदर्शित करता है कि इस काल में पूर्वी और पश्चिमी भारत में यह पदाधिकारी लोकप्रिय था। द्रंग शब्द का अर्थ वाह्य स्थित सीमा-चौकियाँ भी हैं और द्रंगिक का अर्थ इसलिए, सीमा वाह्य चौकी के प्रभारी पदाधिकारी अर्थात् दो देशों के बीच की सीमा का संरक्षक हो सकता।

(9) **चाट और भाट** :—अचटभट-प्रावेश्य का अर्थ अनियमित सैनिकों द्वारा प्रवेश करना नहीं है, जो इस मुहावरे की सम्भवतः उत्तम व्याख्या है। जब सेना देहात होकर गुजरती थी तो सैनिक रास्ते में पड़े हुए किसानों से सभी प्रकार के बकायों को वसूल करते थे।[7] चाट-भाट नियमित और अनियमित सेना के निम्न पदाधिकारी हो सकते हैं। भाट का अर्थ सेना का सिपाही है। लेकिन भण्डारकर सोचते हैं कि यह शब्द भट से सम्बन्धित है, जिसका अर्थ राजा का सेवक है और जिसका कार्य राजा का गुणगान करना है। बूहलर के अनुसार चाट का अर्थ सम्भवतः भाग्यवक्ता है।[8] डी० सी० सरकार के अनुसार भाट भट-मनुष्य है। सम्भवतः भ्रट से उद्धृत है; जो कभी-कभी इसके धातुलेख में व्यवहृत है। साधारणतः यह चट या चत्र के साथ व्यवहृत होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ सैनिक, लेकिन वास्तविक अर्थ पाक, बरक्न्दाज अथवा प्यादा अर्थात् पुलिस का सिपाही है। भट शब्द भट्ट की तरह उच्चरित होता है जिसका अर्थ मध्ययुगीन गायक अथवा संगीतज्ञ है। चाट सम्भवतः भटों के एक दल के नायक का सूचक है या पैदल सैनिक के एक दल का नायक पुलिस का आदमी।[9] याज्ञवल्क्य[10] राजा

1. **Ibid.**, XI, No 17, p. 179.
2. **Ibid.**, XV, p. 275.
3. **Ibid.**, XIII, No. 30, p. 339.
4. **Ibid.**, XXX, No., 30, p. 167.
5. D. C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, p. 101
6. **I A.**, XV, p. 187.
7. **E I.**, IX. No. 45. p. 296.
8. **I.A.**, IV. p. 106.
9. D. C Sircar, **op. cit.**, pp. 51, 68.
10. **Yaj**, I, 335.

के कर्त्तव्यों के बारे में कहते हैं कि राजा चटों, डकैतों और कायस्थों के द्वारा उत्पन्न की गयी परेशानी से लोगों की रक्षा करता था।

प्राननाथ वर्णन करते हैं कि प्रत्येक 'स्थाना' सेना के दस्ते द्वारा, जो आधा सैनिक और आधा पुलिस मिश्रित होता था और जो चार-भाट कहे जाते हैं, सुसज्जित रहता था। यह स्थाना (आधुनिक काल का थाना) चाटों और भटों के क्रिया कलापों के कारण आतन्क का स्थान था।[1] कुछ व्यक्ति चाट और भाट के द्वारा चोरी में पकड़े जाते थे, छड़ियों से पीटे जाते थे, रस्सों से बाँधे जाते थे और शीघ्र ही थाना ले जाये जाते थे। उन्हें कोड़ों से पीटा जाता था, गालियों के द्वारा धमकाया जाता था और गर्दन पकड़कर कारागार में डाल दिया जाता था।[2] यद्यपि चाटों और भटों का कार्य नागरिकों की रक्षा करना और चोरों, डकैतों तथा संदेहास्पद चरित्रवाले व्यक्तियों को बन्दी बनाना था, तो भी वे सम्भवतः अपनी जेबों को भरने के लिए अपने अधिकार का प्रयोग करते थे और आम राय यही थी कि यदि देश उनसे मुक्त हो जाय तो एक अच्छी बात हो।[3] याज्ञवल्क्य स्मृति में उनका वर्णन चोरों और रिकार्ड रखनेवालों के साथ किया गया है।[4] मृच्छकटिक में नायक का दोस्त यह अभ्युक्ति देता है—"सबसे अधिक साहसी और दुष्ट भी उस स्थान पर जाने की हिम्मत नहीं करेगा जहाँ चाट और दरबारी लोग रहते हैं"।[5] इस काल में विशिष्ट अधिकार-पत्रों के द्वारा इन अधिकारियों की कठोरता से ब्राह्मणों और उनके रैयतों की रक्षा की जाती थी। भू-अनुदानों में स्पष्टतः वर्णित है कि दान दिये गये गांव में सैनिकों और पुलिस[6] का प्रवेश वर्जित था और करों, टैक्सों तथा पीड़ाओं से वे मुक्त रहते थे।[7] कुछ लेखकों ने चट की व्याख्या चापलूस के अर्थ में की है, जो संस्कृत शब्द चटु से निकला है और जिसका अर्थ चापलूसी है।[8] व्याघ्रसेन[9] के सूरत-लेख इसे बिल्कुल स्पष्ट करते हैं कि चाट

1. Pran Nath—*A Study in Economic Condition in Ancient India*, p. 60.
2. **Ibid.**, p. 61.
3. **Ibid**, p. 62.
4. **Yaj'** I, 334-335.
5. **Mrchch.**, 158.
6. **E .I.**, III, No. 8, p. 51.
7. **Ibid.**, III, No. 30, p. 219.
8. **Ibid**, XI, No. 17, p. 176.
9. **Ibid.**, XI, No. 2, pp. 219-221.

और भाट अंशतः पुलिस और सैनिक के रूप में कार्य करते थे एवं डकैतों तथा उच्च राज्य षड्यंत्र से दोषी व्यक्तियों को बन्दी बनाने के लिए नियुक्त होते थे। प्रवरसेन[1] द्वितीय का दूदिया धातु-लेख, शंकसोमा[2] के वेतुल अभिलेख, महाराज हस्तिन का सोह ताम्रलेख, धारसेन द्वितीय[3] का वल्लभी अनुदान, उसी राजा[4] का पलिटाना धातु-लेख और हर्ष का बांसखेरा[5] तथा मधुवन[5] धातु-लेख 'चाट-भाट' को राजकीय भृत्यों के साथ वर्णन करते हैं।

चाट-भाट को वाण बहुधा एक साथ एक ही क्षेत्र में वर्णन करते हैं, जैसा भू-अनुदान में होता है। उनके अनुसार वे देहात के लोगों के द्वारा अपनी कठोरता और लालच के कारण घृणित समझे जाते थे। एक स्थल पर वाण ने खेत से प्रचुर अनाज प्राप्त करने के बाद कुलीन लोगों के गुलामों और भृत्यों की संगति में बातचीत करते एवं हंसते हुए रूप में उनका वर्णन करते हैं। दूसरे स्थल पर वाण लिखते हैं कि इन शाही कारिन्दों के द्वारा की गयी कठोरता और दुर्व्यवहार की गरीब लोग शिकायत करते थे।[7] इसलिए चाट और भाट चौकीदार, पुलिस और सिपाहियों के रूप में नियुक्त व्यक्ति थे।

पश्चिमी भारत में भोगेल बताते हैं कि चाट परगना के मुखिया की उपाधि था जो राजस्व संग्रह हेतु जिला-प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी होता था।[8] किन्तु बंगाल में चाट इस तरह के विस्तृत क्षेत्र का मुख्य नहीं था। ऐसा होते हुए भी उसे कृषकों को बलपूर्वक श्रम करने के लिए पकड़ने का अधिकार था। चाट शब्द के सहचर भाट शब्द का अर्थ चाट का अधीनस्थ पदाधिकारी हो सकता है।

दक्षिण भारत में शिवस्कन्द वर्मन के अनुदान में भाद भाट के लिए प्रयुक्त है।[9] वाकाटक राज्य में भाट के सदृश गण्डक एक सिपाही था। वह भी गांवों में शान्ति

1. **Ibid.**, III, No. 35, p. 258.
2. **Ibid.**, VIII, No. 28, p. 237.
3. **I. A.**, XV, p. 187.
4. **E. I.**, XI, No. 5, p. 83.
5. **Ibid.**, IV, No. 29, p. 208.
6. **Ibid.**, I, No. 11, p. 68.
7. **H. C.**, P. 205.
8. **Vogel.** op. cit., p. 132.
9. **E. I.**, p. 2.

स्थापित करता था और लोगों से राजस्व वसूल करता था।[1] महाशिवगुप्त के वारादल धातु लेख से चाट को क्षत्र के समान समझे जाने का संकेत मिलता है। क्षत्र शब्द मूलतः छदु शब्द से निर्मित है, जिसका अर्थ 'छिपना' या 'छिपाना' है। अतः इसका अर्थ वह व्यक्ति है जो छिपा हुआ है या छद्मवेशी है।[2] इन पदाधिकारियों का वर्णन मध्य भारत के अभिलेखों में सर्वनाथ के शासन-काल के पूर्व नहीं मिलता है।[3]

यह प्रतित होता है कि उपर्युक्त पदाधिकारियों में अधिकांश का राजस्व-प्रशासन में कम-से-कम निरीक्षण का हाथ रखता था, यद्यपि वे दूसरे पदाधिकारियों के सदृश राजस्व मामलों में प्रत्यक्ष रूप से संबंधित नहीं थे।

1. V. V. Mirashi, op. cit., p. 54.
2. E. I, XXVII, No. 46, p. 288.
3. B, C. Sen, op. cit, p. 371.

उपसंहार

प्रस्तुत प्रबन्ध में प्राचीन भारत में जिला-शासन का विश्लेषण किया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य हिन्दू धर्मशास्त्रों के विवरण विदेशी यात्रियों के विवरण, अभिलेखों एवं मुद्राओं के अध्ययन के आधार पर जिला-शासन के इतिहास का निरूपण किया गया है। प्रथम अध्याय के प्राचीन भारत में राजनीति सम्बन्धी कल्पनायें, अध्ययन के प्रमुख साधन एवं उनकी विवेचना की गयी है। द्वितीय अध्याय में प्राचीन काल से प्राक्-मौर्यकाल तक भारतीय शासन-पद्धति का सर्वेक्षण और उसके मूलभूत सिद्धांतों की चर्चा की गयी है। विभिन्न साधनों के अध्ययन से पता चलता है कि जिला-शासन का विकसित रूप मौर्यकाल से स्पष्ट हो जाता है।

तीसरे अध्याय में मौर्यकालिन जिला-शासन का विवेचन किया गया है। मौर्यकाल में राजतंत्र अपने चरमोत्कर्ष पर था। कौटिल्य ने राजा को ही राज्य कहा है और इससे राजा के सर्वशक्तिमान होने का पता लगता है। फिर भी राज्य को चलाने के लिए यह आवश्यक था कि उसे इकाइयों में बाँटकर विभिन्न पदाधिकारियों के अधीन किया जाय। सम्पूर्ण साम्राज्य प्रांतों में विभक्त था और प्रांत जिलों में। मौर्यकालीन शासन में समाहर्त्ता और सन्निधातृ का जिला-शासन से घनिष्ट सम्बन्ध था और जिला प्रांत केन्द्र और स्थानीय शासन के बीच कड़ी का काम करता था। प्रांतों के अधीन जिला होता था। ग्राम-शासन ग्रामिक के अधीन होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्र और ग्राम के बीच जिला-प्रशासन एक महत्त्वपूर्ण रोल अदा करता था।

चौथे अध्याय में मौर्यकाल के पश्चात् या 150 ई०—800 ई० के बीच उत्तर भारत में जिला-शासन का विश्लेषण है। कुषाण गुप्त, हर्ष एवं पाल-प्रतिहार काल में जिला-शासन काफी विकसित हुआ, जिसकी मैंने सविस्तार विवेचना की है। कुषाण-काल में सामंतवादी प्रवृत्ति की नींव पड़ी एवं इसका चरमोत्कर्ष गुप्तकाल में देखने को मिलता है। सामन्तवादी व्यवस्था बाद के काल में भी प्रचलित रही। इससे शासन के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ और प्रशासनिक इकाइयों के नाम भी। सामंतों की प्रधानता बढ़ी और वे लोग अपने को बड़ी-बड़ी पदवियों से विभूषित करने लगे। शासन का प्रधान सम्राट् होता था। प्रांतीय राज्यपाल के रूप में अब सामंत रहने लगे और उनके अधीन का विषयपति भी सामंत होने लगा। हर्ष के बाद सामंतवादी पद्धति दृढ़ हो चुकी थी और पाल-प्रतिहार युग तक आते-आते प्रशासन के सभी क्षेत्रों पर सामन्तवादी प्रभाव दिखाई पड़ने लगे।

गुप्तकाल में दो प्रकार की शासन-पद्धति प्रचलित थी। कुछ निश्चित क्षेत्र राजा के द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों द्वारा सीधे नियन्त्रित होता था एवं अन्य सामन्तों के द्वारा शासित होता था। इसका प्रमाण यह है कि 'दत्त' लोग वंशानुगत रुप से पुण्ड्रवर्धन भुक्ति में राज्यपाल बने रहे और वहां के जिला प्रशासन पर भी सामन्तों का प्रभुत्व बना रहा। विषयपति का प्रमुख कार्य जिला में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखना था। विषयपति की सहायता के लिए दाण्डिक, चौरोद्धरणिक, दण्डपाशिक आदि (पुलिस के) कर्मचारी होते थे। दामोदरपुर के ताम्रलेखों में पांच विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों का उल्लेख है, इनमें से चार-नगरश्रेष्ठी, प्रथमकुलिक, प्रथम कायस्थ एवं पुस्तपाल, जिनकी पूर्ण विवेचना की जा चुकी है। गुप्तकाल में जिला प्रशासन में 'कील' का काम करता था। एक तरफ वह केन्द्र और प्रान्त से आदेश प्राप्त करता था एवं दूसरी ओर ग्राम को आदेश देता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तकाल में जिला-शासन काफी विकसित एवं सुसंगठित था।

पांचवें अध्याय में 300-1000 ई० के बीच दक्षिण भारत में जिला-शासन का इतिहास है। सामन्ती-व्यवस्था भी काफी दृढ़ हो चुकी थी और सामन्त लोग राजा की अधीनता स्वीकार करते हुए स्वतन्त्र रूप से विभिन्न क्षेत्रों पर शासन करते थे। इन सामन्तों के अपने विषयपति एवं अन्य कर्मचारी होते थे। इसका प्रमाण राष्ट्रकूट-शासन-प्रणाली को देखने से मिलता है। राष्ट्रकूट के अतिरिक्त दक्षिण में चोल-पल्लवकालीन जिला-शासन का विश्लेषण किया गया है इस काल में जिला, प्रान्त का भेद करना मुश्किल हो जाता है। फिर भी यथाशक्ति इस बात का प्रयास किया गया है कि जिला-शासन का स्वरुप स्पष्ट हो।

छठे और सातवें अध्यायों में प्रशासनिक इकाइयों और प्रमुख पदाधिकारियों का विश्लेषण विभिन्न साधनों के आधार पर किया गया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

(1) मूल ग्रन्थ

अथर्ववेद संहिता, सायण भाष्य	—	एस पी० पण्डित द्वारा सम्पादित, बम्बई ।
ऋग्वेद संहिता, सायण भाष्य,	—	वैदिक शोध मण्डल, पूना ।
(शुक्ल) यजुर्वेद संहिता, उच्चट, महीधर भाष्य,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस ।
सामवेद संहिता, सायण भाष्य,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
अथर्ववेद, सायण भाष्य,	—	मुरादाबाद ।
काठक संहिता,	—	स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा ।
तैत्तिरीय संहिता, सायण भाष्य,	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
मैत्रायणी संहिता,	—	विंटरनिट्ज द्वारा सम्पादित, जर्मनी ।
कपिष्ठल कठसंहिता,	—	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर ।
वाजसनेयी संहिता,	—	तत्वविवेचक प्रेस, बम्बई ।
ऐतरेयब्राह्मण, सायण भाष्य,	—	त्रावणकोर विश्वविद्यालय, संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम ।
तैत्तिरीय आरण्यक,	—	हरिनारायण आप्टे द्वारा सम्पादित, पूना ।
शतपथब्राह्मण,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
शांखायनब्राह्मण,	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
गोपथब्राह्मण,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
ताण्ड्य महाब्रह्मण,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस ।
ईशावास्योपनिषद्,	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
छान्दोग्य उपनिषद,	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
बृहदारण्यकोपनिषदत्र,	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
कठोपनिषद्,	—	तिरूपति ।
आपस्तम्ब श्रोतसूत्र,	—	रुद्रदत्त कृत सूत्र दीपिका, कलकत्ता ।
कात्यायन श्रौतसूत्र, श्रीकर्कभाष्य,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस ।

आश्वलायन श्रोतसूत्र,	—	आनन्दाश्रम, पूना।
बोधायन श्रोतसूत्र,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।
शांख्यायन श्रोतसूत्र,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, कलकत्ता।
आश्वलायन गृह्यसूत्र,	—	अनन्तशयनम् सीरीज, त्रिवेन्द्रम।
पारस्कर गृह्यसूत्र,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र,	—	जी० बुलर द्वारा सम्पादित, बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई।
गौतम धर्मसूत्र,	—	आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, पूना।
बोधायन धर्मसूत्र	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
वशिष्ठ धर्मसूत्र,	—	बम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज, बम्बई।
मनुस्मृति,	—	ए० एन० माण्डलिक द्वारा संपादित, बम्बई।
मनुस्मृति, मेधातिथ्यादि षट् टीका,	—	गणपति कृष्णजी प्रेस, बम्बई।
याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा, व्यवहार,		
बालम्भट्टी, वीरमित्रोदय,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
याज्ञवल्क्य स्मृति, अपरार्क,	—	आनन्दाश्रम, पूना।
पराशरस्मृति,	—	बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई।
बृहस्पतिस्मृति,	—	बड़ौदा।
नारदस्मृति,	—	जाली सम्पादित, कलकत्ता।
अष्टाविंशति स्मृति संग्रह,	—	हरि प्रसाद, भगीरथ, बम्बई।
कात्यायनस्मृति सारोद्धार,	—	कार्ण सम्पादित, बम्बई।
नारदीयमन्वर्थ संहिता,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
स्मृतीनांससुच्चय,	—	आनन्द श्रम संस्कृत सीरीज, पूना।
धर्मशास्त्र संग्रह,	—	जीवानन्द विद्यासागर सम्पादित, कलकत्ता।
वाल्मीकि रामायण,	—	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई।
महाभारत,	—	चित्रशाला प्रेस, पूना।
जैमिनी सूत्रवृत्ति,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
तन्त्रवार्तिक (भट्टपाद कुमारिल)	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
न्यायसुधा (तन्त्रवार्तिक टीका)	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।

बृहती (शाबरभाष्य व्याख्या)	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
भट्टदीपिका,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।
मीमांसा दर्शन (शाबरभाष्य)	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस।
मीमांसादर्शन (शाबरभाष्य)	—	जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता।
अग्निपुराण,	—	राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित, कलकत्ता।
भागवतपुराण,	—	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
मत्स्य पुराण,	—	,, ,,
मार्कण्डेय पुराण,	—	,, ,,
विष्णुधर्मोत्तर पुराण,	—	,, ,,
मृच्छकटिक,	—	,, ,,
कामसूत्र	—	(जयमंगला टीका सहित) चौखम्भा, बनारस।
पाणिनि अष्टाध्यायी,	—	,, ,,
पातजली महाभाष्य,	—	,, ,,
कोटलीय अर्थशास्त्र	—	(गणपति शास्त्री) अनन्तशयनम् सं० सी० त्रिवेन्द्रम्।
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र	—	एफ० डब्लू थामस, अनुवाद), लाहौर।
कामन्दकीय नीतिसार,	—	राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा संपादित, कलकत्ता।
कामन्दकीय नीतिसार,	—	(श्री शंकरार्यकृत जयमंगला उपाध्याय निरपेक्षा), पूना।
दण्डविवेक (वर्द्धमान कृत),	—	गायकवाड ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा।
नीतिशतक,	—	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
मानसोल्लास,	—	सं० सीरीज, बड़ौदा।
युक्तिकल्पतरू,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।
राजनीति रत्नाकर,	—	बिहार रिसर्चसोसायटी, पटना।
शुक्रनीतिसार	—	(जीवानन्द व्याख्या), कलकत्ता।
शुक्रनीतिसार	—	(विनयकुमार सरकार का अनुवाद) इलाहाबाद।

नीतिमंजरी,	—	चोखम्भा सं० सी०, बनारस ।
नीतिवाक्यामृतम्,	—	बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
हेमाद्रि (प्रायश्चित खण्ड)	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
नीतिमयूरव,	—	गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई ।
मदनपारिजात,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
विधान पारिजात,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
विवादचन्द्र,	—	चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस ।
विवादचिन्तामणि,	—	बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
विवाद रत्नाकर,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
वीरमित्रोदय,	—	चौ० सं० सी०, बनारस ।
व्यवहारमयूरव,	—	चौखम्भा सं० सी०, बनारस ।
व्यवहारमातृका,	—	ए० सो०, कलकत्ता ।
सरस्वती विलास,	—	संस्कृत सीरीज, मैसूर ।
स्मृतिचन्द्रिका (व्यवहारकाण्ड),	—	संस्कृत सीरीज, मैसूर ।
स्मृतितत्व,	—	एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता ।
स्मृतिप्रकाश,	—	बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
स्मृति रत्नाकर,	—	बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई ।
कृत्यकल्पतरु (व्यवहार काण्ड और राजधर्मकाण्ड),	—	गायकवाड ओ० सी०, बड़ौदा ।
धर्मकोष,	—	प्रज्ञा पाठशाला मण्डल, सतारा ।
दण्डनीति प्रकरण,	—	आनन्दाश्रम, पूना ।
दायभाग, तोंदरिया प्रेस,	—	तोंदरिया प्रेस, धारवाड़ ।
राजधर्म (अंग्रेजी)	—	अड्यार लाइब्रेरी ।
व्यवहार निर्णय,	—	,, ,, ।
चुल्लवग्ग,	—	पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार ।
संयुक्तनिकाय,	—	पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार ।
दीघनिकाय,	—	,, ,,
अंगुत्तरनिकाय,	—	,, ,,
महावग्ग,	—	,, ,,
जातक,	—	बी० फासबोल द्वारा सम्पादित, 1877-1879 ।
धम्मपद,	—	लन्दन, 1914 ।

(2) कोश

अमरकोश	—	(रामाश्रमी व्याख्या), बम्बई ।
अभिधान राजेन्द्र	—	रतलाम ।
शब्दकल्पद्रुम,	—	बड़ौदा ।
निरूक्त,	—	बम्बई ।
मेदिनीशब्दकोश,	—	बनारस ।
वाचस्पत्य कोश,	—	कलकत्ता ।
वैदिक कोश,	—	लाहौर ।

Encyclopaedia Britanica.

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Ed. by James. Hastings, New York.

Encyclopaedia of Social Sciences.

Vedic Index of Names and Subjects—by A. A. Macdonell and A. B. Keith, published by Motilal Banarsi Das.

Sakskrit English Dictionary—Sir M. Monier William.

The Student Sanskrit English Dictionary, Motilal Banarsi Das, Delhi, 1963.

(3) JOURNALS

1. Annual Report of the Archaeological Survey of India.
2. Epigraphia Indica.
3. Indian Historical Quarterly.
4. Journal of the (Royal) Asiatic Society of Bengal.
5. Journal of the Bihar (and Orissa) Research Society.
6. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.
7. Journal of Indian History.
8. Memoirs of the Archaeological Survey of India.
9. Proceedings of the All India Oriental Congress.
10. Proceedings of the Indian History Congress.

(4) INSCRIPTIONS

Bhandarkar, D. R., : List of Inscriptions of Northern India, No. XXXIX; Appendix to EI. XIX, XXIII.

Choudhary, R. K. (Ed.) : Select Inscriptions of Bihar, Patna, 1958.

Diskalkar. D. B. (Ed.) : Selections from Sanskrit Inscriptions, Vol. I, Part II, Madras.

Fleet, J. F. (Ed.) : Corpus Inscriptionum Indicanum, Vol. III, Calcutta, 1888, Varanasi, 1963.

Majumdar, N. G. (Ed.) : Inscriptions of Bengal, Vol. III, The Vanendra Research Society, Rajshahi, Bengal, 1929.

Mirashi, V. V. (Ed.) : Corpus Inscriptionum Indicanum, Vol. IV, 2 parts, Ootacamund, 1955.

Pandey, R. B. (Ed.) : Historical & Literary Inscriptions, Varanasi, 1962.

Sircar, D. C. (Ed.) : Select Inscriptions, Vol. I, University of Calcutta, 1942.

Upadhyaya, B. (Ed.) : A Study of Ancient Indian Inscriptions, Patna, 1961.

Epigraphia Indica : Government Publication.

Rice : Mysore & Coorg from Inscriptions.

(5) FOREIGN ACCOUNTS

Beal, S. : Buddhist Records of the Western World, Vol. I-IV, Calcutta, 1958.

Giles, H. A. : The Travels of Fahien, First published, 1923.

Legge, J. H. : Records of Buddhistic Kingdoms, Oxford, 1886.

Takakusu, J. : A record of the Buddist Religion as practised in India and Malaya Archipelago, Oxford, 1896.

Watterns, T. : On Yuanchwang's Travel in India, (A. D. 629-645), 2 Vols., London- Vol. I, 1904 & Vol. II, 1905.

(6) सहायक-ग्रन्थ

Agrawala, V. S. : India as known to Panini, Lucknow, 1953.

... ... : Harsacharita Ek Sanskritik Adhyayan, Patna, 1962.

... ... : Kadambari Ek Sanskritik Adhyayan, Patna, 1962.

... ...(Tr.) : Srngara Hata, Bombay, 1960.

Aiyangar, Rangswami, K. V. : Aspects of the Social and Political System of Manusmiriti, Lucknow, 1949.

... ... : Aspects of Ancient Indian Economic Thought, Banaras, 1934.

... ... : Indian Cameralism. Madras, 1944.

Aiyangar, Rangaswami, L. K. V. : Rajadharma, Madras, 1941.

: Some Aspects of Ancient Indian Polity, Madras, 1936.

... ... : Some Aspects of Hindu View of Life, Baroda, 1952.

Aiyangar, S. K. : Evolution of Hindu Administrative Institutions in Madras, 1931.

... ... : Ancient India, London, 1911. (Aiyangar Commemoration Volume).

Aiyer, P. S. Sevasvamy : Evolution of Hindi Moral Ideas, Calcutta, 1935.

Altekar, A. S. : Rastrakutas and their times, Banaras Hindu University, 1934.

... ... : State and Government in Ancient India; Motilal Banarsi Das, Patna, 1955.

Anjaria, J. J. : The Nature and Grounds of Political Obligation in the Hindu State, London, 1935.

Asvaghosha : Buddha Charita, Ed. by E. R. Cowell; Oxford, 1893. Trans. by F. B. Cowell, SBE., Vol. XI.

Bandyopadhyay, N. C. : Development of Hindu Polity and Political Theory. Calcutta, 1927.

... ... : Kautilya, Calcutta, 1927.

Banerjea, P. N. : Public Administration in Ancient India, London, 1916.

Banerji, R. D. : The Age of the Imperial Guptas, Banaras, 1933.

... ... : History of Orissa, Calcutta, 1930.

Bhandarkar, D. R. : Asoka, Calcutta, 1925.

... ... : Carmichael Lectures, 1919.

... ... : Some Aspects of Ancient Hindu Polity, Banaras, 1929.

Bhandarkar, R. G. : Early History of Deccan.

Barnett, L. D. : Antiquities of India, London, 1913.

Basaka, R. G. : History of North-Eastern India, Calcutta, 1934.

Basham, A. L. : The Wonder that was India, New York, 1954.

Basu, Praphullachandra : Indo-Aryan Polity, London, 1925.

Barva Beni Madhab : Asoka and His Inscriptions. Calcutta, 1946.

Bose, A.N. : Social and Rural Economy of Northern India, Calcutta, 1961.

Brown, D. Mackenzie : The White Umbrella, Berkeley, 1953

Budha Prakash : Aspects of Indian History and Civilization (Ist Edn.) Agra, 1965.

Catalogue of the Coins in the Indian Museum, Calcutta, Oxford, 1906.

Charles Drekmeir : Kingship and Community in Early India, O. U. P., Bombay, 1962.

Chakravarti, C. : A Study in Hindu Social Polity, Calcutta, 1923.

Chakravarti, P. C. : Art of War in Ancient India; Dacca, 1941.

Choudhary, R. K. : Ancient Indian Law and Justice, Motilal Banarsidass, 1953.

... ... : Kautilya's Political Ideas and Institutions, Chowkhamba-Benares-1971.

Choudhary, R. K. : Econmic History of Ancient India. Janaki Prakashan, Patna 1982.

Choudhary, S. N. (Tr.) : Harsacharita of Bana, Varanasi, 1950.

Chatterjee, H. L. : International Law and Inter State Relations in Ancient India, Calcutta, 1958.

Das Gupta, R. P. : Crime and Punishment in Ancient India, Calcutta, 1930.

Devasthali, G. V. : Introduction to the Study of Mudra Rakshasa, Bombay. 1948.

Dharma, P. C. : The Ramayana Polity, Madras, 1941.

Dikshitar, V. R. R. : The Hindu Administrative Institution, Madras, 1929.

... ... : Mauryan Polity, Madras, 1932.

... ... : Gupta Polity, Madras, 1952.

Digha Nikaya : Ed. T. W. Rhys Davids and J. E. Carpenter, 3 Vols., P. T. S., London, 1980-1911. Tr. T. W. Rhys Davids, 3 Vols., S. B. B., London.—1989-21 (Hindi) Rahula Sankrityayana and Jagdish Kashyapa, Benaras, 1936.

Dreckmeier, Charles	:	Kingship and Community in Early India, Oxford, 1962.
Dutta, B. N.	:	Dialectics of Hindu Ritualism, Calcutta, 1952.
...	:	Studies in Indian Social Polity, Calcutta, 1944.
Fleet, J. E.	:	Inscriptions of the Early Gupta Kings, London, 1888.
Ganguly, D. C.	:	History of Paramara Dynasty.
Ghoshal, U. N.	:	"The Constitutional Significance of Samgha Gana in the Post—Vedic Period", Indian Culture, VII, 1945.
... ...	:	Contributions to the History of Hindu Revenue System; Calcutta, 1929.
... ...	:	Agrarian System in Ancient India, Calcutta, 1930.
... ...	:	Hindu Political Theories, Calcutta, 1923.
... ...	:	The Beginning of Indian Historiography and other Essays, Calcutta, 1944.
Ghoshal, U. N.	:	A History of Indian Political Ideas, O. U, P,, 1959.
... ...	:	History of Hindu Public Life, Calcutta, 1945.
... ...	:	Studies in Indian History and Culture, Calcutta, 1957.
Gopal, L.	:	Economic Life of Northern India-(Ist Edn.), Motilal Banarsidass, Deihi, 1965.

Handiqui, K. K. : Yasastilaka and Indian Culture, Pub. Jivaraja Granthamala Series, No. 2., Sholapur, 1949.

Havell, E. B. : The History of Aryan Rule in India, London, 1918.

Hazra, R. C. : Studies in the Puranic Records of Hindu Rites and Customs, Pub. University of Dacca, 1940.

Heesterman, J. C. : The Ancient Indian Royal Consecration, The Hague, 1957.

... ... : Jataka With Commentary, Ed. V. Fausboll, 7 Vols. (Vol. 7).

... ... : Index by D. Anderson, London, 1877-97, Tr. Various hands, 6 Vols., London, 1895-97.

Jayaswal, K. P. : Hindu Polity (3rd Edn.), Bangalore, 1955.

... ... : Manu and Yajnavalkya, Calcutta, 1930.

Jha, Subhadra (Tr.) : History of Indian Literature; Vol. III, Part-I by Winternitz (Ist Edn.), Delhi, 1963.

Kane, P. V. : History of Dharmasastra, Vols. I-IV, Poona, 1946.

Keith, A. B. : History of Sanskrit Literature, Oxford, 1928.

... ... : "The Authenticity of the Kautilya", Journal of the Royal Asiatic Society, January, 1913.

Konow, S. : Kautalya Studies, OSIO, 1945.

Kosambi, D. D. : "The Text of the Arthasastra" Journal of the American Oriental Society, LXXVIII (1958).

Kosambi, D. D. : An Introduction to the Study of Indian History (Ist Edn.) Bombay, 1956.

... ... : The Culture and Civilization of Ancient India in Historical Outline, London, 1965.

... ... : Myth and Reality, Bombay, 1962.

Krishna Rao, M. V. : Studies in Kautilya, Mysore, 1953.

Law, N. N. : Studies in Ancient Hindu Polity, Vol. I, 1914.

... ... : Aspects of Ancient Indian Polity, Oxford, 1931.

Laski, H. J. : State in theory and Practice, Allen & Unwin, London.

Mahalingam, T. V. : South Indian Polity, University of Madras. 1955.

Mahtab, H. K. : History of Orissa, Lucknow, 1949.

Maity, S. K. : The Economic Life of Northern India in Gupta Period, Calcutta, 1957.

Majumdar, B. P. : Socio-Economic History of Northern India, firma K. L. Mukhopadhyay, Calcutta, 1960.

Majumdar, R. C. : Corporate Life in Ancient India, Calcutta, 1922.

... ... (Ed.) : History of Bengal, Vol. I, University of Dacca, 1943.

... ... (Ed.) : Vakataka and Gupta Age, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay (Ist Edn.) 1946.

Majumdar, R. C. (Ed.) : Classical Age, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay, 1954.

... ... (Ed.) : Age of Imperial Unity, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay.

... ... (Ed.) : Age of Imperial Kanauj, Bharatiya Vidya Bhawan, Bombay.

McCrindle : Ancient India as described by Megasthenes & Arian, Culcutta, 1885.

... ... : Ancient India as described by Ptolemy, Calcutta, 1885.

Minakshi, C. : Administration and Social Life under the Pallavas; University of Madras, 1938.

Mirashi, V. V. : Inscriptions of the Kalachuri-Cedi Era, CII. IV. two parts, Ootacamund, 1955.

... ... : Vaskataka Rajavamsa ka Itihasa tatha Abhilekha; Tr. by Ajoy Mitra Sastri (Ist Edn.), Varanasi, 1964.

Mishra, B. B. : Polity in the Agni Purana, Calcutta, 1965.

Mitra, S. K. : The Early Rulers of Khajuraho, Calcutta, 1958.

Mookerji, Radhakumud : Asoka, London, 1928.

... ... : Chandragupta Maurya and His Times, Rajkamal Prakashan, 1953.

... . : Local Government in Ancient India, Motilal Banarsidass, 1938.

... ... : Harsa, Oxford University Press, London, 1926.

Niyogi, Roma : The History of Gahadavala Dynasty; Calcutta, 1959.

Niyogi, Puspa : Constribution to the Economic History of Northern India, Calcutta, 1962.

Ojha Gaurishankar Hirachand : Madhyakalin Bharatiya Sanskriti, Prayaga, 1928.

Pall Masson : Ancient India and Indian Civilization, Tr. M. R. Double Helen William Grabowski, Phillip Starn, 1951.

Pande, G. C. : Studies in the Origins of Buddhism, Allahabad, 1957.

Pannikar, K. M. : Harsa of Kanauj, Bombay, 1922.

... ... : Origin and Evolution of Kingship; Baroda State, 1938.

... ... : A Survey of Indian History.

Pires, E. A. : The Maukharis; Madras, 1934.

Prasad. Beni : Theory of Government in Ancient India; Allahabad, 1927.

... ... : The State in Ancient India, Allahabad, 1928.

Prannath : A Study in the Economic Condition of Ancient India. London, 1929.

Puri, B. N. : India as deseribed by Early Greek Writers, Indian Press, Allahabad, 1939.

... ... : The History of Gurzara Pratihara, Lucknow, 1957.

Puri, B. N. : India under the Kusana, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1965.

... ... : History of Indian Administration.

Ray, J. C. : Ancient Indian Life, Calcutta, 1948.

Raychaudhuri, H. C. : Political History of Ancient India (6th Edn.)

... ... : Studies in Indian Antiquities. Calcutta University, Calcutta, 1932.

Roy, Gandhijee : Diplomacy in Ancient India, Janaki Prakashan. Patna, 1981.

Saletone, B. A. : Ancient Indian Political Thought and Institution; New Delhi, 1963.

Saletone, R. N. : Life in Gupta Age, Bombay, 1943.

Sen, B. C. : Some Historical Aspects of the Inscriprions of Bengal, University of Calcutta, Calcutta, 1942.

Shama Sastri, R. : Evolution of Indian Polity, Calcutta, 1920.

Sharma, R. S. : Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, Motilal Banarsidass, Delhi, 1959.

.... : Indian Feudalism, University of Calcutta, 1965 (Hindi Tr. Bhartiya Samantwad).

Sharma, Dasharath : Early Chauhan Dynasty, Delhi, 1959.

Shastri, J. L. : Political Thought in Purana; Lahore, 1944.

Shastri, Nilakanta, K. A. : Studies in Chola History and Administration, Madras, 1932.

.... : The Theory of Pre-Muslim Indian Polity, Madras, 1932.

.... : The place of Arthasastra in the History of Indian Polity", Annals of the Bhandarkar Research Institute, XXVIII.

Sinha, B. P. : Decline of the Kingdom of Magadha, Patna, 1954.

Sinha, H. N. : Sovereignty in Ancient India, London, 1938.

... ... : Development of Indian Polity Bombay, 1963.

Sircar, D. C. : Indian Epigraphy; Motilal Banarsidasa, Delhi, 1965.

... ... : Indian Epigraphical Glossary Motilal Banarsidass, Delhi, 1966.

Spellman, J. W. : Political Theory of Ancient India, Oxford, 1964.

Thakur, U. : History of Mithila (Darbhanga, 1956).

Tripathi, R. S. : History of Kanauj (Ist Edn.) 1937.

Upadhyaya, V. : Socio-Religious condition of North India, Varanasi, 1964.

Vaidya, C. V. : History of Hindu Mediaeval India, Vols. I & II, Poona, 1921.

Virji, A. J. : Ancient History of Surastra, Bombay, 1955.

Wattera, T. : On Yuan Chwang's (Travels in India) 1965.

Winternitze : History of Indian Literature.

सूचीपत्र

अग्नि 19
अग्निपुराण 8
अग्निमित्र 84
अजातशत्रु 45
अर्जुन 128
अर्जुनायन 11
अर्थशास्त्र 2-6, 11-13, 15, 46, 47, 52, 57, 59, 60, 68, 72, 76-78, 80
अथर्ववेद 5, 18, 23, 25
अधिष्ठान 92
अधिराज 17
अन्तर्वेदी 89
अन्नमभट्ट 3
अपरार्क 3
अप्रतिकर 99
अप्रहत 99
अफगानिस्तान 53
अभिलषितार्थ चिन्तामणी 10
अमरावती 104. 131
अम्बरीष 228
अमागछी 124
अमात्य 129
अम्रकदिव 96
अयोध्या 119
अरिकामेडु 131
अरिच्छत्र 54
अलतेकर (डा०), 38, 68, 84, 141
अल्लकप्प 36
अवध, 104
अवस्कर (शौचालय), 80
अशोक 11, 12, 45, 46, 52, 54, 55, 56-59, 67-69, 71, 105, 115, 129
अशोक अभिलेख 12
अशोक कालीन शिलालेख 12
अश्वदमक 58
अश्वमेध 132
अश्वाध्यक्ष 48
अटश्कुलक 40
अक्षावाय 22
अक्षपटलाध्यक्ष 77, 78
आचारांग सूत्र, 9
आटमिक 50
आयोध्याकाण्ड 26
आरक्षाधिकृत 95
आहार 56-58, 60
ओलेनायकम् 133
ओवक्काक 37
अंगिरा 3
अंतपाल 20
आंतवैशिक 50

इन्डिका 11, 13
इन्द्र 2, 19, 30, 104

इलाहाबाद 57
इश्वाक 37
इसिला 54, 55, 57, 68
ईशान 24
ईश्वर गुप्त 107
ईसा 119

उज्जयिनी 53, 55, 84, 96
उतेथय् 2
उत्तर प्रदेश 53, 57, 125
उत्तर भारत 123, 142
उत्तराध्ययन सूत्र 9
उदय (राजा) 42
उदयगिरि 90
उदयमद्धा 42
उद्यान (कुएं) 80
उद्रंग (भूमिकर) 98
उड़ीसा 11, 104, 125
उपरिकर (भोग कर) 98
उलुम्पा 36

एकपण्ण 38
एकराट 18, 87
एग्रोनोमोई 73, 74, 81
एरियन 51
एशिया 51

कच्छ 5
कचुकी (कंचुकी) 109
कजंगल 104
कटरा (अभिलेख) 94
कटक 131
कण्टक शोधन 60, 62-64
कणे, पी० बी० 14
कर्णाटक 85
कर्णिक भारद्वाज 2
कदंक 88
कन्नड़ 141
कन्हेरी 130
कनिष्क 84, 85
कनौज 104
कपिलवस्तु 36, 37
कपूर-दी-गिरि 11
कम्बोज 53, 67
कर्मान्तिक 49
करणिक 95
कलचूरी 124
कल्याणी 131
कल्हण 10
कलिंग 68
कश्मीर 53, 104, 124
कश्यप 2
कादम्बरी 10, 105
काठियावाड़ 11, 53, 91
कात्यायन 2, 3, 8
काबुल नदी 11
कामधेनु 9
कामन्दक 2, 3, 8, 16, 87
काल 130
कालकवृत्तीय 2
कालिंग 5
कालिदास 10, 87
कालिदास कोश 14
कार्ली 131
कारुकर 131
काशी 17, 89

किन्जलक 2
किण्व (औषधि) 99
किमिला 94, 96
किलल (तेल) 99
कुजुल 184
कुणिदे 11
कुन्तल 106
कुन्ती 129
कुबेर 228
कुमार 53, 69
कुमार कुणाल 80
कुमार गुप्त 88, 91, 100, 144
कुमार देवी 88
कुमारामात्य 91
कुर्रम 134-136
कुलानि 100
कुल्यावाय 74
कुलुक भट्ट 3
कुलेप 85
कुशीनारा 36
कुषाण 85-86, 144
कुषाण सिक्कों 11
कुष्याध्यक्ष 76
कुस 5
केशव 128
केसपुत 36
कोटिवर्ष 94
कोशल 17
कोशाम्बी 53-55, 67, 68
कोटि-विषय 56
कोंकण 130
कोट्यम 134, 135
कौटिल्य 1, 2, 4, 6-8, 11-13, 15, 16, 45-47, 51, 52, 57-60, 70, 72, 74-81, 109, 129
कौनवदन्त 2
कौशल 89
कृतांत 228
कृत्यकल्पतरु 9
कृष्ण 34
कंटक शोधन 52
खरपल्लन 85
खलीमपुर (ताम्रपत्र) 122, 125, 126
खाखेल 12
खालसी 11
खार्वेटिक 55, 59, 72, 76, 79
खिल (बंजर) 99
खोमदस्स 37
गया (अभिलेख) 90, 94
गन्जाम 104
गढ़वाल 125
गरुड़ सिद्ध 228
गांधार 67
ग्रामभोजक 133
गिरनार 96
गिरिव्रज 44
गिरिक्षित 18
गुजरात 53, 91, 93
गुप्त 13, 90
गुप्तचर 66
गुप्त (काल, कालीन, साम्राज्य, शासक

शासन, अभिलेखों) 10, 11, 12, 15, 86, 87-89, 91, 93, 96, 98, 99, 102, 103, 105, 109, 111, 112, 1.7, 119, 128, 129, 141
गुर्जर प्रतिहार 121
गोअध्यक्ष 48
गौतम (बुद्ध) 3, 25, 37
गौतमी पुत्र 128
गौतमी बाला श्री 127
गौल्मिक 95
गुप्त (सम्राट, युग, शासन, वंश) 90, 91, 94-96, 110, 119
गुप्तोत्तर कालीन अभिलेखों 12
गुरु 3
गुल्म 131
गुहालेख 90
गोप्ता 90
गोपाल स्वामी 94, 110
गोवर्धन 130, 131
गौल्मिक 131, 133
गंग 135
गंगा 89, 119

घटोत्कच 91
घोटक मुख 2
चक्रपालित 96
चगलग (महाराज) 90
चतुरंगिनी 35
चन्द्र 228
चन्द्रगुप्त (प्रथम, द्वितीय, मौर्य) 16, 47, 51, 53, 68, 87, 88, 96, 100 103, 105, 115, 117, 119
चाणक्य 16, 47
चानुमा 37
चामुण्डा 94
चारण 228
चिरातदत्त 89
चीतलद्रुग 130
चीनी 13, 88, 105, 114, 117
चुटुसातकर्णियों 85
चुल्लवग 9
चुल्लवगजातक 9
चेनाव 118
चोल (अभिलेखों, काल) 132-136, 137-139

जजाव 94
जनपद 57
जनपति 57
जनमेजय 228
जनापद 57
जयसवाल के० पी० 9, 40
जायसवाल (डा०) 22, 69
जांघिक 58
जीवितगुप्त 144
जुन्नार 131
जूनागढ़ 68, 107
जैन 9
जैन साहित्य 38

तनियूर 136
तहसील 17
तक्षशिला 53-55, 67
ताम्रलेख 12

तालुका 56
तिरहुत 91
तीरभुक्ति 89,91
तीरमुद्रिक 94
तीवरदेव 144
त्रीकमल 90
तुषास्य 68
तुलना राम 128
तोसाली 53-55, 67
तंकुरम 136

दण्डपाल 50
दण्डपाशिक 95
दण्डी 10, 12
दशकुमार चरित 10
दर्शक 44
दक्षशिला 53
दक्षिण भारत 139, 141
दामोदर गुप्त 89
दामोदरपुर 1, 92, 93, 95, 97, 144
दामोदरपुर ताम्रपत्र 98, 100, 111
दायभाग 62
दिनेश चन्द्र सरकार 14
दिव्यावदान 9
दिवाकर 238
दिवोदास 18
दिक्षितार (डा०) 14, 100
दीर्घचारायण 2
दुर्गपाल 50
दुर्गहण 18
दुहिताएँ 23
देदी विपत्ति 62
देवदेह 37
देवपुत्र 86
देवणभट्ट 10
देववरनार्क 144
देवासुर 19
देशपाण्डे 142
देशाधिकृत 133
देयमेय 132
द्रोणमुख 55, 59, 72, 76, 79
दौवारिक 50

धनद 104
धर्मपाल 124, 125
धर्मस्थानीय 52
धान्यकटक 131
धात्री 59
धोली 11

नदपाण 85
नरेन्द्र 6
नहुष 128
नागरक 50
नागार्जुन कोपडा 131
नाडमावुंडो 142
नाडु 134-136
नानाघाट 130
नाभाग 228
नारद 3, 8, 87
नालन्दा 93, 96, 124
नासिक 130, 131
नीति प्रकाश 3
नीतियूरव 3

नीतिकल्पतरु 3, 9
नीलकण्ठ 3, 9
नीलकंठ शास्त्री 139
नूलपुर पत्र 125
नेरलमसल 43
नौअध्यक्ष 48

पटटेलक 98
पतन्जलि 10
पन्चतण्त्र 10
पन्हेरी 131
परमभट्टारक 87
परमेश्वर 120
पराशर 2, 3
परिगुप्त 129
परीक्षित 3
पल्लक 88
पल्लव 132-134, 136, 137
पलाश 118
पवन तुषाष्य 55
पवेणीपोत्थक 40
पश्चात 57
पशुपति 19
पहोडपुर 98
पाकिस्तान 52
पाटलीपुत्र 52, 53, 55, 60, 67, 80, 82, 83, 91, 94, 96
पाड्य 135
पाणिनी 9, 10
पान्चाव 5
पाल (अभिलेखों, सामराज्य) 12, 124, 125
पालयुग 127
पालवंशी 124, 125
पाल प्रतिहार 123
पाशविनाक 52
पावा 36
पिजनव 18
पित्रानिक 67
पिम्परीपप्रक 144
प्लिनी 51
पिशुन 2
पिष्पालिवन 36
पुण्ड्रवर्धन 91, 144
पुण्ड्रवर्धनभुक्ति 89, 94
पुर 57
पुरपाल 95
पुराण 9
पुरुकुत्स 18
पुलकेसिन भीपु 115
पुलभावि 130
पुलुमायी 128
पुष्यगुप्त (वैश्य) 54, 55, 68
पुस्तपाल 95
पेरुन्दरम् 133, 136
पैण्य 131
पोर 57
पौधेय 11
प्रतिवर्तक 105
प्रतिहार 105
प्रतिज्ञायौगन्धरायण, 10
प्रदेष्टारः 58, 59
प्रभावती गुप्त (रानी) 88
प्रयाग 104

प्रवेणिपुस्तक, 41
प्रवेष्टा 49
प्रशास्ता 50
पृथा (पार्थ) 129
पृथवी 19
पंचमंडली 97
पंचाल 89
पजाब 41, 53, 118

फरीदपुर 93, 110
फरीदपुर अभिलेखन 94
फाहियान 13, 87, 88, 102, 103, 117, 119

बनर्जी एन० सी० 64
बरौच 131
बलाध्यक्ष 50
बलि 35
बशिष्टीपुत्र 128
बसखेरा 104
बसाढ 106, 110
बहल 131
बहागिरी 54, 56
बाजपेय यक्ष 19
बालनाहु 134
बाहुदन्तीपुत्र 2
बुद्ध 11
बुद्धगुप्त 144
बिन्ध्याचल 53
बिनयपिटक 9
बिम्बीसार 43-45
बिहार 53
बुलि 36
बुहलर 69
बेनी प्रसाद (डा०) 34
बेनी माधव बरुआ 69
बेलारी 130
बोहारिक 40
बौद्ध 5, 11, 37, 42
बौद्धकाल 37, 41
बौद्धसाहित्य 37, 38, 41, 42
ब्रह्मगिरि 54
ब्रह्मदत्त 144
बृहस्पति 2, 3, 8, 19, 30, 101
बृहस्पति सूत्र 8
बृहत्पराशर 3
बंग 5, 89
बंगाल 53, 93, 124

भगवान स्वतेवाराह स्वामी 94
भट (पुलिस, सैनिक) 99, 133
भटिव्य 43
भण्डागारिक 43
भवु 34
भ्रम (नाली) 80
भारद्वाज 2, 3
भारत 1-3, 6, 8, 10, 11, 13, 14, 16, 17, 43, 52, 73, 81, 84, 85, 87, 119, 124, 137, 143
भारतवर्ष 140
भास 10
भीम 3, 128
भीष्म 3, 34
भूत 228

भतावात प्रत्याय 98
भोज 5, 10
भोजराज 9
भंडारकर 69

मजुमदार (डा०) 120
मगध 5, 43-45, 54, 57, 89
मगधभुक्ति 89
मन्दसोर (कौशाम्बी) 89, 96
मत्पसारुल अभिलेख 98
मथुरा 84, 85
मध्यदेश 5, 26
मध्यमशी 25
मधुवन 104, 144
मनु 2, 3, 8, 72, 102, 131
मनुस्मृति 103
मराठों, 139
मल्लसारुल शिलालेख 94
मलाल शेखर जी० पी० 14
महागोविन्द 44
महामात्र 41
महाभाष्य 10
महाभारत 1-7, 9, 15, 16, 30, 31, 33, 35
महाभोज 130
महारथी 130
महावस्तु 37
महाशिलाकण्टक 43
महासम्मत 42
मातरिश्वा 2
मातृक 129
मानाध्यक्ष 48
मालव 11
मालवा 53, 84, 85, 89, 91
मालविकाग्निमित्र 10
मांडी 106, 108
मिथिला 36
मित्र 19
मित्रमित्त 3, 8
मृच्छकटिक 16, 101
मुकर्जी (डा०) 99, 119
भुक्ति 60
मुंगेर 122
मुद्राध्यक्ष 48
मेगास्थनीज 11-13, 52, 63, 73-76, 79-82
मैकडोनेल 13
मैसूर 54, 130
मोनशन 64
मौर्य 11, 13, 45, 60, 90, 128
मौर्य-काल (कालीन) 17, 45, 52, 55-57, 60, 68-76, 79, 94, 98, 102, 103, 112, 132-140
मौर्य राज्य 52
मौर्य साम्राज्य 43, 45-47, 52, 53, 78, 84, 86
मौर्योत्तर कालीन सिक्कों 11, 12, 130
मौर्योत्तर अभिलेख 12

यजु 1
यम 104
यमनतुषाष्य 54
यमन 67
यमुना 89

ययाति 228
यशास्तिलकचम्पू 10
यक्ष 228
यक्षत्री 130
याक्षवालक्य 8, 100
युक्त 57, 72
युक्तिकल्पतरु 10
यूनान 17
युनानी 13, 41, 43

रघुवंश 10
रज्जुक (राजुक) 43, 57, 58-60, 69, 72, 84
रंगास्वामी, के० व्री० भायंगार 64
राजगृह 44, 56, 93, 94
राजतरंगिनी 10
राजत्वदेवी 86
राजनीति प्रकाश 10
राजनीति रत्नाकर 3
राजनीति शास्त्र 10
राजसूय यक्ष 19
राजपूताना 53
राजपुत्र देवपुत्र देवभट्टारक 89
राजमहल 104, 109
राजराजेश्वर मन्दिर 132
रत्तिमन 22
राधा कुमुद मुखर्जी 20
रामेश्वरम् 139
रामग्राम 36
रामायण (वालमीकि) 9, 15, 26, 27, 37
राय चौधरी 69
राष्ट्रिक (राष्ट्रपति) 67, 85, 89, 133, 135, 141, 142
राक्षस 228
रिक 1
रीज डेविड्स 40]
रुपनाथ 56
रेवा 104

लघुशिला 56
लघुस्तम्भलेख 56
लवण 99
लक्ष्मण शास्त्री जोशी 14
लक्ष्मीधर 3, 9
ललितविस्तर 37, 38
लियाक 85
लुडविग 24
लोकधामोदेवस्य 67

वघ्रयाख 18
वनस्पर 85
व्यास 3
व्यवहारमयूख 100
वरण 19
वराकमण्डल 94, 110
वराहमिहिर 10
वरुनिका 144
वरुण 104, 128
वलमी 109
वल्लभी 104
वाकाटक 88, 129
वातव्याधि 2
वामदेव 2

वामन 16
वाटसं 116
वाण 10, 108, 109
वाराणसी 85
वावासी (उत्तर कनाडा) 130
विक्रमादित्य 96, 119
विडैयाधिकारिन् 133
वित्रवर्मन 144
विदेह 17
विद्याधेर 128
विनयापूर 105
विराट 5
विवितोध्यक्ष 48, 76
विविश्वयामात्य 40, 43
विशाखदत्त 16
विशाधिक 32
विशाम्पति 57
विशालाक्ष 2, 3
विशुनपुत्र 2
विशेश्वरानन्द वैदिक सस्थान 14
विष्णु, 8
विष्णुकुण्डो 93
विष्णुदास 90
विष्णु शर्मा 10
विषय 56, 57, 60
विषयपात 56
विष्टी 98
विष्णुपालित 129
वीरमित्र 3
वीरोदय 9
वृहत्सहिता 10
वेतकटक 131
वेरायसी 85
वेशयासी 85
वैशाली 13, 36-38, 90, 92, 96, 102, 103, 110

शक शासन 90
शतपाल 32
शम्बर 2
शलाकाग्राहक 39
शाकल 118
शाक्य शुद्धादन 37
शान्तिपद 32, 34, 36
शिखर स्वामी 16, 102
शिरदनम् 136
शिव 11
शिवदत्त श्यामक 129
शिवस्कन्दिल 129
शृजयवंश, 19
शुक्त 60
शुक्र 2, 3, 6, 8, 9, 30, 46
शुंग काल 107
शुंग शासक 84
शुंगों 85
शौल्किक 95

सगर 228
सतवाहन 60
सन्निधाता 49, 51, 71
समापा 53, 55, 57
समाया 67
समाहतृवनागर 80
समुद्रगुप्त 87, 89, 108, 144

सभापर्व 29, 34
सलीमपुर ताम्रपत्र 71, 124
सववर 37
सहस्रपति 32, 33
सहस्राधिप 57
स्कन्दगुप्त 88, 96, 106, 107, 228
स्कन्धावार 131
स्ट्रेबो 51
स्थानिक 56, 58, 59, 72, 80
स्थानीय 55, 56
स्थापित 105
स्थाणुदत्त 94
स्वम्भूदेव 94
स्वरट् 5
सातकर्णी 128
सातवाहन (अभिलेखों) 12, 129
साम 1
सामगाभ 37
सामन्त-चुडामणि 91
सारनाथ 56, 85
स्मिथ (डा०) 69
सिथियन 85
सियादोनी 121
सिलोन 144
सिंहनाद 106
सीताध्यक्ष (कृषि निदेशक) 48, 74
सीलावती 37
सुतधर (सूत्रधर) 40
सुदास 18
सुदर्शन झील 96
सुराध्यक्ष 48
सुराष्ट्र 5, 53, 55, 96
सुलेमान 120
सुवर्णगिरि 53, 55, 67, 68
सुवर्णाध्यक्ष 58
सूताध्यक्ष 48
सूनाध्यक्ष 48
सोपार 131
सोभ 19
सोमदेव सूरि 3, 8, 10
सोमेश्वर 10
सौराष्ट्र 11, 68, 85, 89
सौवर्णिक 49
सौवीर 5
संख्यापक 58
संजरन्तक (गुप्तचर) 133
संविधिग्रहिक अवंति 106
सस्थागार 39
संसुमार पर्वत 36

हरिषेण 102
हर्ष 104-106, 108-110, 113, 114, 117-119, 144
हर्षकाल 103
हर्षचरित 10, 105, 109, 111, 112, 114, 116
हसिला 67
हस्तयध्यक्ष 48
हाथीगुफा अभिलेख 12
हितोपदेश 10
हिमालय 5
हिस्तनू (महाराज) 90, 91
ह्वेनसांग 13, 104, 105, 108, 112, 116-119
ऋगवेद 5, 14, 15, 17-20, 23, 25

मंगला राय बिहार-उत्तर प्रदेश के संधि स्थल बक्सर के निवासी हैं। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अपनी एम. ए. की डिग्री ली और पुनः भागलपुर विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति में प्रथम श्रेणी में स्नातक प्रतिष्ठा में उत्तीर्णता प्राप्त की। 1970 से 1975 तक ये स्वतन्त्र रूप से भागलपुर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर राधाकृष्ण चौधरी के निदेशन में शोध-छात्र के रूप में शोध करते रहे और 1975 में इन्हें भागलपुर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि मिली। 1975 के अप्रैल मास से ये बी. एन. एम. बरहिया कालेज (भागलपुर विश्वविद्यालय) में व्याख्याता के रूप में कार्यरत हैं।

प्राचीन भारत में जिला शासन

मंगला राय